वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००

वर्ष ४५ अंक ६ जून २००७

विवेक-ज्योति

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक ६

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,२५०

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४५ जून २००७ अंक ६

वैराग्य-शतकम्

आसंसारात्त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृङ्
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रमार्गं गतो वा ।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमानायलीलाम् ।।८१।।

अन्वय – तात, आसंसारात् इदं त्रिभुवनम् चिन्वतां, अस्माकं तादृक् नयन-पदवीं वा श्रोत्र-मार्गं न एव गतः, यः अयं विषय-करिणी-गाढ़-गूढ़-अभिमान-क्षीबस्य अन्तःकरण-करिणः संयम-आनाय-लीलां धत्ते ।

अर्थ – हे मित्र, सृष्टि के आरम्भ से अब तक, तीनों लोकों में खोजने पर भी, कोई ऐसा व्यक्ति हमारे देखने की तो बात ही क्या, सुनने में भी नहीं आया, जो इस विषयों-रूपी हथिनी के मोह में मदोन्मत्त अपने अन्त:करण-रूपी हाथी को संयम-रूपी रस्सी से बने जाल में फँसाने में समर्थ हुआ हो ।

यदेतत् स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमशन्
न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ।।८२।।

अन्वय – यत् एतत् स्वच्छन्दं विहरणम्, अकार्पण्यम् अशनं, आर्यैः सह संवासः, उपशम-एक-व्रत-फलम् श्रुतम्, अपि बहिः मन्द-स्पन्दं मनः, कस्य उदारस्य तपसः एषा परिणतिः चिरस्य विमृशन् अपि न जाने ।

अर्थ – यह स्वच्छन्दता के साथ विचरण करना, दीनता का भाव लाये बिना भिक्षान्न का भोजन करना, सज्जनों के साथ निवास करना; भोगों से विरति रूपी मुख्य फलवाले वेदान्त आदि शास्त्रों का श्रवण करना और मन की बाह्य विषय में अति अल्प ही प्रवृत्ति होना – यह सब किस महान् तपस्या का फल है ! इस बात को मैं दीर्घ काल तक विचार करके भी समझ नहीं पाता ।

– भर्तृहरि

सबका हो कल्याण

– १ –

(राग-दरबारी कान्हरा, ताल-कहरवा)

अति दुर्लभ यह मानव-जीवन
जग-अरण्य में व्यर्थ भटकते,
व्यर्थ न खोना यह अमोल धन ।। अति.

प्रभु की ओर बढ़ा अपने पग,
बाधाओं से पूरित है मग,
भोग-विषय वन में न अटकना,
प्रभु-चरणों को मान हृदय-धन ।। अति.

जीवन लक्ष्य सुनिश्चित कर ले,
पुण्य कर्म से झोली भर ले,
बीता काल न फिर आता है,
कर उपयोग सँभल कर प्रति क्षण ।। अति.

जो बोयेगा, सो पायेगा,
कुछ भी साथ नहीं जायेगा,
जब 'विदेह' चिर यात्रा होगी,
प्रभु केवल होंगे अपने जन ।। अति.

– २ –

(राग-वैरागी, ताल-कहरवा)

स्वस्थ सबल हों प्राणी सारे, सबका हो कल्याण,
भाई-चारा फैले जग में, सच्चे हों इन्सान ।।

दोष किसी के कभी न देखूँ, सबमें व्यापित परमेश्वर हैं,
विषयों में न कभी ललचाऊँ, सब ये क्षणभंगुर नश्वर हैं,
सेवा-पूजा करूँ सभी की, सब में हैं भगवान !!

अपने स्वार्थ लोभ के चलते, पीड़ा हो न किसी को मुझसे,
जीवन के झंझावातों में, लगा रहे चित निशि-दिन तुमसे,
हाथ पकड़ ले चलो सुपथ पर, मैं बालक नादान ।।

षड् रिपुओं का है यह उपवन, निशिदिन जग में सजग रहे मन,
परहित कर्मयोग में लगकर, छल-बल रहित धन्य हो जीवन,
'रामकृष्ण' होवे अधरों पर, हो 'विदेह' जब प्राण ।।

शोषण के विविध रूप

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – शोषण का मूल क्या है?

उत्तर – अज्ञान, भेदबुद्धि तथा कामनाएँ – ये तीनों ही मानवजाति के दु:ख के कारण हैं और इनमें परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध है। स्वयं को अन्य मनुष्यों की अपेक्षा, यहाँ तक कि पशु की अपेक्षा भी श्रेष्ठ मानने का किसी को क्या अधिकार है? वस्तुत: सर्वत्र एक ही वस्तु तो विराजमान है।

त्वं स्त्रीं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी – "तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो एवं तुम्हीं कुमारी हो।"

बहुत से लोग कहेंगे, "इस प्रकार सोचना संन्यासी को ही शोभा देता है, उन्हीं के लिये यह ठीक है, मगर हम लोग तो गृहस्थ हैं।" ठीक है कि गृहस्थ को दूसरे अनेक कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, अत: वह इस साम्य-भाव में इतना स्थित नहीं रह सकता, परन्तु उनका आदर्श भी यही होना उचित है, क्योंकि इस समत्व-भाव को प्राप्त करना ही सभी समाजों का, समस्त जीवों का तथा सम्पूर्ण प्रकृति का आदर्श है, लेकिन अफसोस! लोग समझते हैं कि वैषम्य ही समता की प्राप्ति का मार्ग है, मानो अन्याय करते-करते वे न्याय के रास्ते पर आ पहुँचेंगे!

यह वैषम्य ही मनुष्य-प्रकृति की घोर दुर्बलता है, मनुष्य जाति के लिये अभिशाप-स्वरूप है तथा सभी दु:ख-कष्टों का मूल कारण है। यही भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रकार के बन्धनों का मूल है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरम्।
न हिनस्ति आत्मनाऽत्मानं ततो याति परां गतिम्।।

– "ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से अवस्थित देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, अतएव परम गति प्राप्त करते हैं।" (गीता, १३/२८) केवल इसी एक कथन में, थोड़े से शब्दों में मुक्ति का सार्वभौमिक उपाय निहित है।[९४]

समाज के जीवन में व्यक्ति का जीवन है; समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख है; समष्टि के बिना व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है, यही अनन्त सत्य विश्व का मूल आधार है। अनन्त समष्टि के साथ सहानुभूति रखते हुए उसके सुख-में-सुख और उसके दुख-में-दुख मानकर धीरे-धीरे आगे बढ़ना ही व्यक्ति का एकमात्र कर्तव्य है। और कर्तव्य क्यों? इस नियम का उल्लंघन करने से उसकी मृत्यु होती है और इसका पालन करने से वह अमर होता है। प्रकृति की आँखों में धूल झोंकने का सामर्थ्य किसमें है? समाज की आँखों पर बहुत दिनों तक पट्टी नहीं बाँधी जा सकती। समाज के ऊपरी हिस्से में कितना ही कूड़ा-करकट क्यों न इकट्ठा हो गया हो, परन्तु उस ढेर के नीचे प्रेमरूप नि:स्वार्थ सामाजिक जीवन का स्पन्दन होता रहता है। सब कुछ सहनेवाली पृथ्वी की भाँति समाज भी बहुत सहता है। पर एक-न-एक दिन वह जागता ही है और तब जागृति के उस वेग से युगों से एकत्र मलिनता तथा स्वार्थपरता दूर जा गिरती है।

हम अज्ञानी, पाशविक प्रकृति के लोग हजारों बार ठगे जाकर भी इस महान् सत्य में विश्वास नहीं रखते। हजारों बार ठगे जाकर भी हम फिर ठगने की चेष्टा करते हैं। पागलों की भाँति हम सोचते हैं कि हम प्रकृति को छल सकते हैं। हम बड़े अल्पदर्शी हैं – सोचते हैं कि स्वार्थ-साधन ही जीवन का चरम उद्देश्य है।

विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, वीर्य जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास एकत्र करती है, वह फिर बाँटने के लिये है; हमें यह बात स्मरण नहीं रहती; सौंपे हुये धन में हमें आसक्ति हो जाती है, बस इसी प्रकार विनाश का सूत्रपात होता है।[९५]

शक्ति-संचय जितना आवश्यक है, शक्ति-प्रसार भी उतना ही या उससे भी अधिक आवश्यक है। हृत्पिण्ड में रक्त का एकत्र होना तो आवश्यक है ही, पर उसका यदि पूरे शरीर में संचालन न हुआ तो मृत्यु निश्चित है। समाज के कल्याण के लिये कुल तथा जाति-विशेष में विद्या और शक्ति का एकत्र होना कुछ समय के लिये परम आवश्यक है, पर वह शक्ति सर्वत्र फैलने के लिये ही एकत्र हुई है। यदि ऐसा न हुआ, तो समाज-शरीर तुरन्त ही नष्ट हो जायगा।[९६]

राजा अपनी प्रजा का माता-पिता है। प्रजा उसकी सन्तान है। प्रजा को पूरी तरह राजाश्रित रहना चाहिये और राजा को भी पक्षपात-रहित भाव से, अपनी सन्तान की तरह प्रजा का पालन करना चाहिये। पर जो नीति घर-घर के लिये उपयुक्त है, वही सारे समाज पर भी लागू है। समाज घरों की समष्टि मात्र है। जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाय, तब पिता को उसके साथ मित्र जैसा बर्ताव करना चाहिये, तो फिर समाज-

रूपी बच्चा क्या सोलह वर्ष की अवस्था कभी प्राप्त ही नहीं करता? इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर समाज किसी समय उस जवानी को अवश्य प्राप्त करता है और सभी समाजों में शक्तिमान शासकों और जनता में कलह प्रकट होता है। इसी युद्ध के परिणाम पर समाज का जीवन, उसका विकास और उसकी सभ्यता निर्भर है।[९७]

प्रश्न – ब्राह्मण-युग में शोषण का क्या रूप होता है?

उत्तर – ब्राह्मण ने कहा – "सब बलों का बल विद्या है, और वह विद्या मेरे अधीन है, इसलिये समाज मेरे शासन में रहेगा।" कुछ दिन ऐसा ही रहा।[९८]

जब ब्राह्मण का राज्य होता है, तब आनुवंशिक आधार पर भयंकर पृथकता रहती है – पुरोहित स्वयं और उनके वंशज नाना प्रकार के अधिकारों से सुरक्षित रहते हैं। उनके अतिरिक्त किसी को कोई ज्ञान नहीं होता और उनके अतिरिक्त किसी को भी शिक्षा देने का अधिकार नहीं रहता।[९९]

पुरोहित लोग राजाओं को कभी डर दिखा आज्ञा देते, कभी मित्र बन सलाहें देते और कभी चतुर नीति के जाल बिछाकर उन्हें फँसाते थे। इस प्रकार उन लोगों ने राजकुल को अनेक बार अपने वश में किया। राजाओं को पुरोहितों से डरने का सबसे मुख्य कारण था कि उनका यश और उनके पूर्वजों की कीर्ति पुरोहितों की ही लेखनी के अधीन थी।[१००]

उन्नति के समय में पुरोहितों का जो संयम, तप तथा त्याग पूरा-पूरा सत्य की खोज में लगा था; वही अवनति के पूर्व काल में केवल भोग्य सामग्री के संग्रह करने तथा अधिकारों के फैलाने में व्यय होने लगा।[१०१]

उसके बाद वह विद्याहीन, पुरुषार्थहीन और अपने पूर्वजों का नाम मात्र रखनेवाला पुरोहित-कुल अपने पैतृक अधिकार, पैतृक सम्मान और पैतृक आधिपत्य को बनाये रखने के लिये जिस-तिस उपाय से यत्न करता है। इसीलिये उसका अन्य जातियों के साथ बड़ा विरोध होता है।[१०२]

प्रश्न – क्षत्रिय कैसे शोषण करते हैं?

उत्तर – जैसे पुरोहित लोग सारी विद्याओं को अपने में ही एकत्र करना चाहते हैं, वैसे ही राजागण भी समस्त जागतिक शक्तियों को अपने पास केन्द्रित करने का यत्न करते हैं।[१०३]

क्षत्रियों ने कहा – "यदि मेरा अस्त्र-बल न रहे, तो तुम अपने विद्या-बल सहित न जाने कहाँ चले जाओगे। मैं ही श्रेष्ठ हूँ।" म्यान में तलवार झनझना उठी और समाज ने उसके सामने सिर झुका दिया। विद्योपासक ब्राह्मण सबसे पहले राजोपासक बने।[१०४]

राज्य-रक्षा, अपने भोग-विलास, अपने परिवार की पुष्टि और सबसे बढ़कर, पुरोहितों की तुष्टि के लिये राजा लोग सूर्य की भाँति अपनी प्रजा का धन सोख लिया करते थे। बेचारे वैश्य लोग ही उनकी रसद और दुधारु गाय थे।[१०५]

क्षत्रिय शासन क्रूर और अन्यायी होता है।[१०६]

प्रश्न – वैश्यों के शोषण की क्या विशेषता है?

उत्तर – जैसे ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के उदय-काल में विद्या और सभ्यता का संचय हुआ था, वैसे ही वैश्यों के प्रभुत्व-काल में धन का संचय हुआ। जिस रुपये की झनक चारों वर्णों का मन हरण कर सकती है, वही रुपया वैश्यों का बल है। वैश्य को सदा इस बात का डर लगा रहता है कि उस धन को ब्राह्मण कहीं ठग न ले और क्षत्रिय जबरन छीन न ले। इसी कारण अपनी रक्षा के लिये वैश्य लोग सदा एकमत रहते हैं। सूद रूपी कोड़ा हाथ में लिये वैश्य सबके हृदय में धड़कन उत्पन्न करता है। अपने रुपये के बल से राजशक्ति को दबाये रखने में वह सदा व्यस्त है। वह सदा सचेत रहता है कि राजशक्ति उसे धन-धान्य संचय करने में बाधा न डाले। परन्तु उसकी यह इच्छा बिल्कुल नहीं होती कि यह राजशक्ति क्षत्रिय से शूद्रकुल में चली जाय।[१०७]

वैश्य कहता है – "पागल, जिसको तुम **अखण्डमण्लाकारं व्याप्तं येन चराचरम्** कहते हो, वही सर्वशक्तिमान मुद्रा-रूप है और वह मेरे ही हाथों में है। देखो, इसकी बदौलत मैं भी सर्वशक्तिमान हूँ। ब्राह्मण, इसके प्रभाव से तुम्हारा तप-जप, विद्या-बुद्धि मैं अभी मोल ले लेता हूँ। और महाराज, तुम्हारा अस्त्र, शस्त्र, तेज, वीर्य इसकी कृपा से मेरी काम-सिद्धि के लिये बरता जायगा। ये जो बड़े-बड़े कल-कारखाने तुम देखते हो, ये सब मेरे मधु के छत्ते हैं। वह देखो, असंख्य शूद्ररूपी मक्खियाँ उसमें रात-दिन मधु एकत्र करती हैं। परन्तु वह मधु कौन पियेगा? – मैं ठीक समय पर उसकी एक-एक बूँद निचोड़ लूँगा।"[१०८]

प्रश्न – शूद्र कैसे शोषण करते हैं?

उत्तर – युगों से पिसकर शूद्र मात्र या तो कुत्तों की तरह बड़ों के चरण चाटने वाले या हिंसक पशुओं की तरह निर्दय हो गये हैं।[१०९]

❖ **(क्रमशः)** ❖

सन्दर्भ-सूची – ९४. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड ९, पृ. ३५७; **९५**. वही, खण्ड ९, पृ. २१६-१७; **९६**. वही, खण्ड ९, पृ. २१३; **९७**. वही, खण्ड ९, पृ. २१५; **९८**. वही, खण्ड ९, पृ. २१७; **९९**. वही, खण्ड ५, पृ. ३८६; **१००**. वही, खण्ड ९, पृ. २१२; **१०१**. वही, खण्ड ९, पृ. २१२; **१०२**. खण्ड ९, पृ. २१२; **१०३**. खण्ड ९, पृ. २१४-१५; **१०४**. खण्ड ९, पृ. २१७; **१०५**. खण्ड ९, पृ. २०२; **१०६**. खण्ड ५, पृ. ३८६; **१०७**. खण्ड ९, पृ. २१८; **१०८**. खण्ड ९, पृ. २१७-१८; **१०९**. खण्ड ९, पृ. २२०

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

श्रीराम के चरित्र में शौर्य है, धैर्य है, नीति-कुशलता है और समस्त गुणों के परस्पर विरोधी तत्त्व भी हैं। इसलिए कहते हैं – वे सिंह भी हैं, कृपासिन्धु भी हैं, वीर भी हैं, प्रसन्न होकर चल भी रहे हैं, पर धीर बुद्धिवाले भी हैं। महर्षि विश्वामित्र बताना चाहते थे कि कठोरता से कठोरता को जीतने की लड़ाइयाँ तो चलती ही रहती हैं, पर सुकुमार भी कठोर को हरा सकता है। जो सुकुमार लगता है, उसमें भी कठोरता की वृत्ति हो सकती है। जितनी कठोरता है, उतनी ही कोमलता भी है। सिंहत्व की पराकाष्ठा यह है कि ताड़का के सामने आने पर उसे दण्डित करने में विलम्ब नहीं हुआ – एक वाण से ही उसे मार डाला, परन्तु उस प्रहार के बाद अगले ही क्षण उन्होंने अपना कृपा-सिन्धु रूप भी दिखाया – भगवान ने उसे अपना पद – मुक्ति प्रदान किया –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा ।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा । १/२०९/६

किसी ने पूछा – "प्रभो, यह कैसा न्याय हुआ? आपने इसे अपना पद क्यों दे दिया?" श्रीराम बोले – "यह तो लेन -देन की बात है। व्यक्ति का सबसे प्रिय उसका प्राण होता है। इसने मुझे अपना प्राण दिया, मेरे पास जो प्रिय वस्तु है मुक्ति, मैंने वही दिया। इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है।"

श्रीराम के चरित्र में वीरता के साथ ही सुकुमारता की भी पराकाष्ठा है। पुष्प-वाटिका में वे इतने सुकुमार दिखाई देते हैं कि फूल तोड़ते हुए उन्हें पसीना आ जाता है –

भाल तिलक श्रमबिन्दु सुहाए ।। १/२३३/३

फूल तोड़ने में श्रम की अनुभूति होती है, माथे पर पसीने की बूँदें आ जाती हैं। हम कल्पना कर सकते हैं कि जिसे फूल तोड़ने में पसीना आता हो, उसे धनुष तोड़ने में कितना श्रम करना पड़ेगा? पर बड़ी विचित्र बात है – फूल तोड़ने में तो पसीना आ गया, मगर धनुष तोड़ने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। धनुष क्षण भर में ही टूट गया, श्रीराम के माथे पर एक भी श्रमबिन्दु या प्रयास का चिह्न दिखाई नहीं दिया –

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े ।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़े ।। १/२६१/७

इस प्रकार श्रीराम के चरित्र में गुणों की समग्रता है – सुकुमारता तथा उसके साथ ही वीरता की भी पराकाष्ठा है।

फुलवारी में फूल तोड़ते हुए पसीना आ जाना और धनुष-यज्ञ में रंच मात्र भी श्रम की अनुभूति न होना – इसे यदि हम आध्यात्मिक दृष्टि से देखें, तो इसमें हमें एक तात्त्विक संकेत मिलेगा। ईश्वर मूलत: अगुण हैं, परन्तु भक्तों की भावना के अनुसार जब वे अगुण से सगुण बनते हैं, तो व्यक्ति जिस गुण के माध्यम से उन्हें स्वीकार करना चाहता है, ईश्वर उसके सामने अपना वही गुण प्रगट करते हैं।

पुष्प-वाटिका का प्रसंग भक्ति का प्रसंग है। वाटिका में फूल खिले हुए हैं। भगवान वाटिका में आये हैं। उस वाटिका के केन्द्र में हैं जनकनन्दिनी सीता, जो आध्यात्मिक अर्थों में मूर्तिमती भक्ति हैं। सीताजी की सखियाँ मानो भक्ति की विविध भावनाएँ हैं।

दूसरी ओर, धनुषयज्ञ के केन्द्र में महान् वेदान्ती महाराज जनक हैं। वे बहुत बड़े ज्ञानी हैं। भक्ति और ज्ञान की दृष्टि में एक अन्तर है। ज्ञान में प्रधानता है अकर्तृत्व की। कर्म हो रहा है, पर कर्तृत्व-बुद्धि नहीं है, 'मैं कर रहा हूँ – ऐसा बोध नहीं है। ज्ञानी को भी देखें, तो लगता है कि कुछ कर रहा है, पर उसके जीवन में अकर्तृत्व है, अहंकार-शून्यता है –

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।
(गीता, १८/१७)

ज्ञान की कसौटी है – कर्तृत्व का अभाव। किसी को ज्ञान है, तो उसका यही अर्थ है कि वह स्वयं को करनेवाला नहीं मानता। उसमें कर्तृत्व नहीं है। जिसमें कर्तृत्व होगा, तो उसमें भोक्तृत्व होगा। आप करेंगे, तो आप भोगेंगे। फिर आप जो कुछ करेंगे, उस करने के पीछे आपकी कोई-न-कोई कामना होगी। कामना पूरी होगी, तो आप प्रसन्न होंगे; पूरी नहीं होगी, तो आपको दु:ख होगा।

वेदान्त की मान्यता है कि ब्रह्म अकर्ता है, वह कुछ नहीं करता और भक्तिशास्त्र की मान्यता है कि सब कुछ ईश्वर ही करता है। दोनों में बड़ा अन्तर है – दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। तो सत्य क्या है? करता है या नहीं करता? यह खेल आपको राम और कृष्ण अवतारों में भी दिखाई देगा। भगवान जब श्रीराम के रूप में अवतार लेते हैं, तो युद्ध करते हुए दिखते हैं। वे संघर्ष करते हैं और वध करते हैं। महाभारत

के युद्ध में श्रीकृष्ण कह चुके हैं – मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा, प्रहार नहीं करूँगा। मानो दोनों का अलग-अलग रूप सामने आता है। श्रीकृष्ण को देख कर लगता है कि वे कुछ नहीं करते, अकर्ता – ब्रह्म हैं। दूसरी ओर श्रीराम को देखकर लगता है कि सब कुछ तो वे ही कर रहे हैं। पर इसमें विशेषता क्या है? श्रीराम सब कुछ करके भी स्वयं को करने वाला नहीं मानते। युद्ध समाप्त हो गया। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि मारे गये। भगवान राम बन्दरों से कहते हैं – इन सबको मैंने नहीं मारा है। इसमें मेरा कोई पुरुषार्थ नहीं है। रावण तो तुम्हारे बल से मरा है –

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्यो ।। ६/११८/३

फिर जब लौटकर अयोध्या आये, तो वहाँ भी श्रेय का बँटवारा कर दिया। यदि कोई समुद्र पार करके आता है, तो लोग कहेंगे – अरे, इतना विशाल समुद्र पार कर दिया। बुद्धिमान होगा तो कहेगा – मैंने कहाँ पार किया? जहाज पर बैठा, चालक ने जहाज चलाया और मैं पहुँच गया। मैं क्या पार करके आया? श्रीराम ने गुरुजी से कहा – "महाराज, लंका का युद्ध तो मानो समुद्र पार करना था। लोग कहते हैं कि राम ने युद्ध के समुद्र को पार कर लिया। परन्तु उसमें दो की आवश्यकता थी, जहाज की और चलानेवाले की। दोनों सामने हैं – जहाज भी और चलानेवाला भी।" गुरुजी से कहा – ये बन्दर ही युद्ध-समुद्र में मेरे लिए जहाज थे और बन्दरों से कहा – गुरुदेव की कृपा ही नाविक है –

गुर बसिष्ट कुल पूज्य हमारे ।
इन्ह की कृपा दनुज रन मारे ।।
ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।
भए समर सागर कहँ बेरे ।। ७/८/६-७

इसमें भगवान का बहुत बड़ा आध्यात्मिक संकेत है। ईश्वर यदि सब कुछ कर सकता है, तो बुराइयों को मार क्यों नहीं देता? हृदय में बैठा हुआ है, तो हृदय में जो दुर्गुण हैं, उसको विनष्ट कर दे। पर भगवान या तो बन्दरों को श्रेय देते हैं या गुरु वशिष्ठ को। इसका आध्यात्मिक अर्थ क्या है? विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी बन्दरों को साधन कहते हैं –

कैवल्य साधन अखिल भालु मरकट ।। ५८/८

संसारी व्यक्ति को थोड़ी चिन्ता रहती है कि हमारे जीवन से दुर्गुण मिट जायँ, बुराई मिट जाय। जो भी मिलता है, पूछ देता है – मन कैसे शान्त हो? कह देता हूँ – "अशान्त रहने से क्या कोई काम रुका हुआ है? बड़े आराम से रह रहे हो, मौज कर रहे हो, क्या व्यर्थ का सवाल करते हो?" मन चंचल हो जाता है! चंचल होने की न आपको कोई चिन्ता है, न कोई हानि हो रही है। यह तो व्यर्थ का प्रश्न करते हैं।

साधक के मन में संकल्प होगा कि बुराई मिटनी चाहिए। यह साधक की वृत्ति है। गोस्वामीजी ने भगवान से कहा – प्रभो, मुझे अपना लीजिए। भगवान बोले – क्या मैंने तुम्हें अपनाया नहीं है? – महाराज, आप भले ही कहें कि आपने मुझे अपनाया है, पर मेरी तो एक निश्चित धारणा है। विनय पत्रिका में है – प्रभो, आज तक मेरे मन में विषयों के प्रति जो आकर्षण है, वह जब मिट जायगा और जितना मैं विषयों से स्नेह करता हूँ, वैसा ही स्नेह आपसे करने लगूँगा, केवल तभी मैं समझूँगा कि आपने मुझे अपना लिया है –

तुम अपनायो तब जाहिनौं जब मन फिरि परिहै ।
जेहि सुभाय विषयन लग्यों तेहि
सो छल छाँड़ि नेह नाथ सो करिहौं ।। २६८

मनुष्य बड़े आनन्द से उस बुराई को लेकर ही तो जी रहा है, उसी में आनन्द ले रहा है। पर साधक के मन में संकल्प जागृत होता है कि ये दोष, ये दुर्गुण, ये बुराइयाँ जीवन से मिटनी चाहिए। इस संकल्प के बाद वह गुरु का आश्रय लेगा। उनके सामने यह प्रश्न रखेगा कि मेरे जीवन की बुराई को नष्ट करने के लिए कौन-सी साधना अपेक्षित है। गुरुदेव उसे बतायेंगे और उसके अनुकूल जब वह साधन करेगा, तब बुराई का विनाश होगा। भगवान का तात्पर्य है कि राक्षसों के विनाश का संकल्प यदि मेरा होता, तो मैं राक्षसों को जन्म ही न लेने देता या पहले ही मार देता।

तो ये बन्दर कौन हैं? – देवतागण हैं। भगवान बोले – चिन्तित तो तुम्हीं लोग थे। तुम्हारी चिन्ता और गुरुजी उसमें सहायक बन गये। संकेत यह है कि ब्रह्म स्वयं अपने आप कुछ नहीं करता। वह गुरु और व्यक्ति की साधना के सम्मिलित योग के द्वारा ही हमारे अन्त:करण की बुराइयों का नाश करता है। इसीलिए भगवान सब कुछ करते हुए भी कहते हैं – मैंने कहाँ किया? मैंने कहाँ मारा? श्रीराम के मन में कभी अपने कर्तृत्व की बात नहीं आती। श्रीराम की यह विनम्रता है, शील है और यही तात्त्विक सत्य भी है।

दूसरी ओर भगवान श्रीकृष्ण ने जब दुर्योधन और अर्जुन के सामने कह दिया कि मैं जिस ओर भी रहूँगा, शस्त्र नहीं उठाऊँगा, युद्ध नहीं करूँगा। दूसरी ओर मेरी सेना होगी, जो युद्ध करेगी। दुर्योधन तो पसीने में तर-बतर हो गया, क्योंकि भगवान ने कह दिया था कि अर्जुन तुमसे छोटा है और कोई वस्तु बाँटें, तो पहले छोटे को ही देना चाहिए, इसलिए अर्जुन, तुम्हीं बताओ, तुम क्या लोगे। दुर्योधन सोचने लगा कि अर्जुन तो सेना ही माँगेगा। जब ये लड़ेंगे ही नहीं, तो फिर इनको ले जाकर क्या पूजा करना है? लेकिन उसे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब अर्जुन ने कहा – "महाराज, मैं तो आपको ही चाहता हूँ।" कितनी बड़ी बात है!

गोस्वामीजी के जीवन में भी यह बात आती है। उन्हें हनुमानजी कैसे मिले, श्रीराम कैसे मिले! प्रसिद्ध गाथा है कि वे शौच से निवृत्त होने के लिए काशी के बाहर जाते थे।

वहाँ एक बबूल का पेड़ था। प्रतिदिन वे एक बड़े पात्र में जल लेकर जाते थे और जो जल बच जाता था, उसे उसी बबूल की जड़ में डाल देते थे। किम्वदन्ती यह है कि उस बबूल में एक भूत रहता था। वह भूत उस जल को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने सोचा कि यह व्यक्ति तो बड़ा अच्छा है, मुझे रोज जल पिला रहा है। एक दिन वह गोस्वामीजी के सामने प्रकट हो गया और बोला – मैं प्रसन्न हूँ, तुमने इतने दिनों तक मुझे जल पिलाया, तुम क्या चाहते हो? उन्होंने कहा – मैं भगवान राम का दर्शन चाहता हूँ।

ध्यान दीजिये – गोस्वामीजी ने भूत से भगवान को माँगा और हम भगवान से भी भूत को माँगते हैं। यही विलक्षणता है। उन्होंने भूत से यह नहीं कहा – "कुछ चमत्कार दे दो। जिसके सिर पर तुम सवार हो जाओ, मैं ऐसा मंत्र मारूँ कि वह अच्छा हो जाय। मेरा बड़ा भारी झाड़-फूँक करनेवाले के रूप में नाम हो जाय। तुम तो भूत हो ही। तुम दूसरों को कष्ट दिया करो और निवारण के लिए मुझे बुलवाया करो।" उन्होंने ऐसा नहीं किया। भूत से भगवान को माँगा। हम लोग भगवान से वही माँगते हैं, जो वस्तु आज है, कल नहीं रहने वाली है। हम लोगों का दुर्भाग्य यह है कि हम भगवान से भी भूत को ही माँगते हैं। और गोस्वामीजी का सन्तत्व यह है कि उन्होंने भूत से भी भगवान को ही माँगा।

उस भूत बेचारे ने कहा – "महाराज, यह मेरे बस की बात तो नहीं है कि मैं आपको भगवान के दर्शन कराऊँ। पर आपकी भावना है, तो मैं आपको उपाय बता देता हूँ। वहाँ कथा होती है और हनुमानजी नित्य सुनने आते हैं। वे सबसे पहले आते हैं और बड़े ही बूढ़े और रोगी के रूप में आते हैं। देखकर लगता है कि कोई कुष्ठ रोगी है, और पीछे बैठ जाते हैं। फिर जब कथा समाप्त होती है, तो सबसे अन्त में जाते हैं। आप उनका आश्रय लीजिये, तो आपको भगवान मिलेंगे।

गोस्वामीजी की विशेषता यह है कि उन्होंने उस पर विश्वास किया और उस बुढ़े कुष्ठरोगी को देखकर उनके मन में घृणा नहीं आई कि यह कहाँ से हनुमानजी हो सकते हैं। जब कथा समाप्त हुई, तो गोस्वामीजी ने उनके चरण पकड़ लिए – महाराज, आप मुझे भगवान का दर्शन कराइए। वह वृद्ध तो पीछे हटने लगा – "अरे, यह क्या कर रहे हो! देख नहीं रहे हो, मेरे शरीर में तो कोढ़ हुआ है, मैं रोगी हूँ, मैं दर्शन कहाँ से कराऊँगा!" पर गोस्वामीजी ने उनका चरण नहीं छोड़ा। स्वस्थ व्यक्ति में हनुमानजी को देखना तो सहज है, पर वृद्ध कोढ़ी में भी उन्हें हनुमानजी दिखाई पड़े। अन्त में वे राजी हो गये। इसके बाद उन्होंने गोस्वामीजी को चित्रकूट में भगवान का दर्शन कराया।

वह कथा आप जानते हैं। भगवान को केवल पा लेना, देवता के सामने पहुँच जाना ही बड़ी बात नहीं है। प्रश्न तो यह है कि हम उनसे चाहते क्या हैं? उनसे माँगते क्या है? दुर्योधन और अर्जुन के बीच यही तो भेद है। अर्जुन कहते हैं – प्रभो, बस आप ही मेरे साथ रहिए। इस पर दुर्योधन प्रसन्न हो गया – "महाराज, इससे बढ़िया बँटवारा और क्या हो सकता है? आप इनके साथ चले जाइए, सेना मुझे दीजिए और विलम्ब मत कीजिए।" वह घबराया हुआ था कि कहीं अर्जुन बदल कर यह न कह बैठे – नहीं, हमें तो आधी सेना भी चाहिए। दुर्योधन सेना लेकर चला गया। और परिणाम क्या हुआ? सेना ने युद्ध किया। ऐसा नहीं कि सेना नहीं लड़ी, वह दुर्योधन की ओर से लड़ी, भीषण संग्राम किया और उनकी सेना का सेनापति यदुवंश का महान् योद्धा कृतवर्मा था। और उसने ऐसा युद्ध किया कि उसकी सारी सेना मारी गई। केवल कृतवर्मा ही बचा।

दूसरी ओर अर्जुन के साथ वह ईश्वर था, जो कह चुका था कि मैं लड़ूँगा ही नहीं। पर सचमुच वह लड़ा या नहीं? इसका उत्तर यह है कि दिखाई तो पड़ा कि नहीं लड़ा, पर लड़ा कौन? जीता कौन? किसी ने कहा – जिस दुर्योधन के पास भीष्म जैसे योद्धा, द्रोणाचार्य जैसे शस्त्रवेत्ता और कर्ण जैसे महारथी थे, उसे अर्जुन ने हरा दिया? अर्जुन कितना शक्तिशाली था! कवि ने कहा – "अरे जाने दो, इतने योद्धाओं की बात छोड़ो। अकेले भीष्म ही इतने शक्तिशाली थे कि वे पाण्डवों को चने के समान भून डालते, उन्हें फिर से भिक्षा माँगनी पड़ती। यदि सारे देवता उनकी सहायता करते, तो भी भीष्म अपने बाणों से पाण्डवों को जलाकर राख कर देते। पाण्डवों की ओर कोई नहीं बचता और दुर्योधन की विजय के गीत गाये जाते।"

पाण्डुसुत सेना को चबेना सो भुनाय देतो
भीषम अकेलो एक भीख मँगवावतो ।।
सकल सुरासुर सहाय करते जौ तौ
बानन लपेट सर जाल न जरावतौ ।।
बचतो न कोउ, मोद मजतो सुयोधन को
तीनों लोक ताही को महान जस छावतो ।।

– महाराज, बड़ी-बड़ी बातें तो बता रहे हो, पर यह हुआ क्यों नहीं? – क्या करें? वह पीले वस्त्रोंवाला, जो कहता है कि मैं स्वयं नहीं लड़ूँगा, यदि वह न आता, तो क्या पाण्डव योद्धाओं के लिए भीष्म को परास्त कर पाना सम्भव था?

तुलसी न तूल से न जाने जाते पाण्डुसुत
पीत पटवारे जौ पै आड़े नहिं आवतो ।।

भगवान अर्जुन से कह चुके हैं, मैं लड़ूँगा नहीं, परन्तु वे गीता ज्ञान का उपदेश देते हैं। युद्ध के मैदान में ही उन्हें अपना विराट् रूप दिखाते हैं और उसी विराट रूप में यह भी दिखाते हैं कि सारे योद्धा मरे पड़े हैं। अर्जुन ने आश्चर्य के साथ देखा और भगवान ने भी उन्हें स्पष्ट रूप से बता दिया

– सच तो यह है कि मैं इन्हें पहले ही मार चुका हूँ –

मया एव एते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।। (गीता, ११/३३)

– तो महाराज, अब क्या करें? बोले – "ये जो मरे हुए दिखाई दे रहे हैं, यह मेरी दृष्टि है, तुमको मैंने अपनी आँखें दी, परन्तु जब तुम अपनी आँखों से देखोगे, तो सब जीवित दिखेंगे। और जब जीवित दिखेंगे, तो तुम्हें लड़ना भी पड़ेगा, मारना भी पड़ेगा। परन्तु अर्जुन, यदि तुमने यह दृश्य न देखा होता, तो जीतने के बाद तुम्हें लगता कि तुमने ही बड़े-बड़े योद्धाओं को हरा दिया है, लेकिन तुम सत्य को समझ लो कि मारनेवाला तो मैं हूँ, मैंने मार डाला है, तुम्हें तो केवल निमित्त बनकर युद्ध लड़ना है, विजय प्राप्त करना है।"

बड़ी अनोखी बात है ! रामायण-काल में श्रीराम सब कुछ करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु करते कुछ नहीं हैं। और महाभारत में श्रीकृष्ण ही कुछ करते नहीं दिखाई देते, पर सब कुछ वे ही करते हैं। सारा युद्ध ही वे लड़ते हैं और सारा युद्ध वे ही जीतते हैं। ब्रह्म क्या है? कर्ता है या अकर्ता? ज्ञानी कहते हैं – वे अकर्ता हैं। भक्त कहते हैं – जो कुछ होता है, सब राम की इच्छा से ही होता है। जो राम चाहते हैं, वही होता है – **करन राम चाहैं, सोई होई ।**

पुष्पवाटिका में जब श्रीराम सीताजी के सामने आते हैं, तब उनके माथे पर पसीना आने का क्या तात्पर्य है? वे सब कुछ करनेवाले राम हैं, पसीना उसी को तो आयेगा, जो कुछ करेगा ! करनेवाले को पसीना तो आयेगा ही। श्रीराम स्वयं को उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं, जैसी कि भक्तिशास्त्र और भक्तों की मान्यता है। समस्त श्रम प्रभु का ही है। जीव के जीवन में जो श्रम है, वह केवल उसकी भ्रान्ति है, अहंकार है। कोई व्यक्ति यदि कहे कि मैं बहुत लम्बी यात्रा से लौटा हूँ, पचास किलोमीटर चलकर आ रहा हूँ, बड़ा थक गया हूँ। तो कहेंगे – चलो, थक गये, पर पहुँच तो गये? परन्तु सहसा एक बच्चा दावा करे कि मैं पचास किलोमीटर यात्रा करके आया, मगर थका नहीं, तो सुनकर लगेगा कि यह कैसा गपोड़ा है ! यह जवान बेचारा तो थककर चूर हो रहा है और बच्चा कह रहा है कि मैं पचास किलोमीटर की यात्रा में थका नहीं। उससे पूछा गया – तुम बड़े झूठे हो, इतनी यात्रा करने पर नहीं थके? बच्चा बोला – इसलिए नहीं थका कि मैं पिताजी के कन्धे पर बैठकर यात्रा कर रहा था। पिताजी थके होंगे, मैं क्यों थकूँगा? **भक्त का सारा श्रम भगवान ले लेते हैं और तब लेते हैं, जब भक्त कहता है – मैं तो कुछ नहीं कर सकता ।** तब प्रभु कहते हैं – ठीक है, मैं करूँगा।

जब सुमन्तजी ने किशोरीजी के कष्ट की बात कही, तो किशोरीजी बोलीं – आप पिताजी से कहिएगा कि मार्ग में जो तीन समस्याएँ आती हैं, वे मेरे जीवन में नहीं आ सकतीं। कौन-कौन सी? – मार्ग में एक तो स्थिति आती हैं भ्रम की। कई रास्ते हों तो कभी-कभी लगने लगता है कि हम इतनी देर से चल रहे हैं, रास्ता कहीं गलत तो नहीं है? बहुत दूर चले, परन्तु गन्तव्य पर न पहुँचें तो दुःख होता है। चलकर पहुँचे तो भी श्रम तो होता ही है। तो तीन समस्या है, श्रम की, भ्रम की और दुःख की। शरीर में श्रम, बुद्धि में भ्रम और मन में दुःख। पर सीताजी बोलीं – पिताजी से कह दीजिएगा कि मुझे न तो श्रम होगा, न भ्रम होगा और न दुःख होगा –

नहीं मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरें ।। २/९९/२
कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें ।। २/६७/४

भक्तिदेवी मानो कहती हैं – आप सोचते हैं कि मैं चल रही हूँ, पर चलते तो प्रभु हैं। श्रम होगा, तो हमारे प्रियतम प्रभु को होगा। और भ्रम इसलिए नहीं होगा कि जब आगे-आगे श्रीराम चल रहे हैं, तब क्या यह चिन्ता होगी कि यह मार्ग सही है या नहीं। फिर दुःख इसलिए नहीं होगा कि जहाँ पहुँचना है, वह भी साथ ही चल रहा है। साधन और साध्य दोनों एक ही हों, तो दुःख भी नहीं होगा।

भक्तिशास्त्र की मान्यता है कि जो कुछ करते हैं, हमारे भगवान ही करते हैं। अन्य कोई कुछ नहीं करता। परन्तु वेदान्ती जनक तो किसी दूसरी ही धातु के बने हुए हैं। वे सारा जीवन वेदान्त का उपदेश देते रहे हैं और उनकी परीक्षा यह है कि जो कोई धनुष को तोड़ दे। जिसमें अकर्तृत्व होगा, वही कर्तृत्व के धनुष को तोड़ पायेगा। इसीलिए धनुष-यज्ञ में वे वह राम नहीं हैं, जो पुष्पवाटिका में थे। धनुष-यज्ञ में भगवान धनुष तोड़ने के लिए उठे क्यों नहीं? भगवान ने वेदान्ती को हरा दिया। जनक कहते हैं – जो धनुष को तोड़ेगा, उसी को सीता मिलेंगी। पर श्रीराम नहीं उठे। क्यों नहीं उठे? बोले – वेदान्तीजी, आपका वेदान्त तो कहता है कि ब्रह्म अनीह होता है। उसमें कोई इच्छा नहीं होती। तो जब इच्छा होगी, तब तो उठूँगा ! आपको तो प्रसन्न होना चाहिए कि ब्रह्म का जो लक्षण आप माने बैठे हैं, वह ठीक बैठ रहा है। फिर जब भक्तों ने भगवान से पूछा – आप सीताजी से इतना प्रेम करते हैं, तो आपने उठकर धनुष तोड़ क्यों नहीं दिया? तो वे हँसकर कहने लगे – जिनको पाना था, वे प्रयत्न कर रहे थे, पर जिसने सदा पा रखा है, वह क्यों प्रयत्न करेगा? सीताजी को पाना थोड़े ही था, वे तो मुझे निरन्तर प्राप्त हैं।

भगवान का यह बड़ा विलक्षण रूप है। वेदान्ती सचमुच हार गया और प्रभु जीत गये। अब वह तो अनीह रहा, उठा ही नहीं। जनकजी घबरा गये कि धनुष तो टूट नहीं रहा है। वे व्याकुल हो गये, उनका सारा वेदान्त का ज्ञान भूल गया। उनकी आँखों में आँसू आ गये और कहने लगे – मेरी इतनी दिव्य सौन्दर्यमयी कन्या और उसे पाने के बाद व्यक्ति को

सौन्दर्य मिलेगा, विश्वविजेता की उपाधि मिलेगी। क्या संसार में कोई ऐसा हो सकता है, जो उसे पाने की इच्छा न करे –

कुअँरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय ।।
कहहु काहि यहु लाभु न भावा।
काहुँ न संकर चाप चढ़ावा ।। १/२५१-५२/१

प्रभु मधुर-मधुर मुस्कराने लगे – वेदान्ती होकर, ब्रह्म को अनीह मानते थे और अब तुम्हीं बेचैन हो गये, चिन्तित हो गये कि मेरी बेटी का विवाह कैसे होगा? उस बेटी के विवाह के लिए बेचैन हो गये, जिसका विवाह होना नहीं है! वह तो शाश्वत रूप से मुझसे अभिन्न है। जनक के मन में सात्त्विक अभिमान था, जैसा वैराग्यवानों में होता है। वे कहा करते थे – मेरे जीवन में साधना द्वारा लब्ध नहीं, सहज वैराग्य है –

सहज बिराग रूप मनु मोरा ।। २/२१६/३

भगवान ने उस सहज वैराग्य की कलई खोल दी – विरागीजी इतने बेचैन, इतने निराश हो रहे हैं। और साथ ही यह भी कहे जा रहे हैं – हाय, हाय, मैंने बड़ी भूल कर दी, ऐसी प्रतिज्ञा कर ली कि मेरी कन्या कुँवारी ही रह जायेगी –

तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू ।।
सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ।
कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ ।।
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई ।। १/२५२/४, ६-७

सब जनकपुरवासी व्याकुल हो गये। वेदान्ती स्वयं न केवल दुखी हुए, बल्कि उनके मन में राग भी प्रगट हो गया और ऐसा भाषण दिया कि सभी दुखी हो गये। फिर लक्ष्मणजी क्रोधपूर्वक कहने लगे – जनकजी ने अनुचित बात कही है –

कही जनक जसि अनुचित बानी। १/२५३/२

लक्ष्मणजी ने उन्हें फटकारते हुए कहा – आपके बारे में बड़ी किम्वदन्तियाँ सुनी थीं कि बड़े ज्ञानी हैं। क्या यही आपका ज्ञान है? आपने ऐसा कैसे कह दिया? मुझे आज्ञा मिले तो अभी इस धनुष को उठाकर सौ योजन तक ले जाऊँ और इसे क्षण भर में ही तोड़ डालूँ।

जनक सहज विरागी हैं और लक्ष्मण वैराग्य के घनीभूत रूप हैं। वेदान्तवाला वैराग्य हार गया, पर भक्तिवाला वैराग्य जीत गया। लक्ष्मण में धनुष तोड़ने की सामर्थ्य है, फिर भी वे नहीं उठे। जनक को लगा कि मैं जिस वैराग्य, अनिच्छा और अनीहता का दावा करता था, वह मुझमें नहीं है। और लक्ष्मण में सामर्थ्य है, पर इच्छा नहीं है, उनके मन में सीता को पाने का कोई संकल्प नहीं है।

तब वह वर्णन आता है, अभी तक वह जो कूटस्थ ब्रह्म था, जो द्रष्टा ब्रह्म था, उसको सक्रिय बनाने का कार्य गुरु ही कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं कर सकता। विश्वामित्रजी ने कहा – **उठहु राम** – उठो, उठो, बहुत कूटस्थ रह चुके, अब जरा खड़े भी तो हो जाओ। तुम अवतार लेकर आए हो, तो बैठे क्यों रहोगे! लोहार की निहाई तो कूटस्थ रहती है, उसकी बात अलग है, पर यहाँ तो तुम कृपा करने आये हो। तुम्हें कुछ पाने के लिए धनुष को नहीं तोड़ना है, तुम्हारे लिये तो कुछ अप्राप्त है ही नहीं। – तो फिर धनुष को क्यों तोड़ना है? – जनकजी कितने दुखी हैं, कितने कष्ट में हैं। उनकी बात को सुनकर जनकपुरवासी भी कितने दुखी हैं। तुम धनुष को तोड़कर इन सभी लोगों के दुःख दूर करो –

उठहु राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा ।। १/२५४/६

इसके बाद वह संकेत आता है, जो कर्तृत्व का नहीं, अकर्तृत्व का सूचक है। गुरुजी ने कह दिया, इसलिये उठे और सर्वप्रथम उन्हें प्रणाम किया। श्रीराम जब उठे, तो उनके हृदय में न तो हर्ष आया और न विषाद आया –

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा ।। १/२५४/७-८

इस प्रसंग में कहते हैं कि उनके मन में न तो हर्ष आया और न विषाद आया। पर उनके चरित्र में हर्ष आने का वर्णन सैकड़ों बार है। जब वे विश्वामित्र के साथ चले तो – हर्षित होकर उनका भय दूर करने के लिये चले –

हरषि चले मुनि भय हरन ।। १/२०८

जब जनकपुर की ओर चले तो, मुनिवृन्द के साथ हर्षित होकर चले और शीघ्र ही जनकपुर के पास पहुँच गये –

हरषि चले मुनिवृन्द सहाया
बेगि बिदेह नगर निअराया ।। १/२१२/४

यह मानो वेदान्त की परीक्षा थी। हर्ष और विषाद तो कर्ता में होता है। जो कर्ता है, उसे सफलता मिलने पर हर्ष होता है, असफल हो तो विषाद हो जाता है। ब्रह्म अकर्ता है, न तो उसमें हर्ष है, न विषाद। ऐसे जो हमारे प्रभु हैं, उनके अनन्त गुणों को तो हम और आप पार कर नहीं सकते, उन अनन्त गुणों में हमें जिस गुण की अपेक्षा हो, उस गुण को जब हम प्रभु के सामने निवेदन करते हैं, तो प्रभु हमारे लिए, उस गुण को स्वीकार करके हमारी समस्या का समाधान कर देते हैं, पर स्वयं तो अगुण के अगुण ही रहते हैं। उनके इन दिव्य गुणों को छोड़कर संसारी लोगों के गुणों का भला क्या वर्णन करें! जो व्यक्ति अपनी जिह्वा को हंसिनी बनाकर श्रीराम के ऐसे गुणों की मोतियों को चुगता रहता है, उसी के हृदय में प्रभु निवास करते हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

आत्मविश्वास की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

कहा जाता है कि हमें आस्थावान बनना चाहिए, पर प्रश्न उठता है – आस्था किसके प्रति? अपने प्रति या ईश्वर के प्रति आस्थाहीनता को नास्तिकता भी कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द इस नास्तिकता की एक नयी व्याख्या करते हैं – "Old religion said he was an atheist who did not believe in god, new religion says he is an atheist who does not believe in himself." – अर्थात् ''पुराने धर्मों ने कहा कि वह नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है कि वह नास्तिक है, जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।'' स्वामीजी का मन्तव्य यह था कि जो अपने आप में विश्वास नहीं करता, उसका ईश्वर में विश्वास करना कोई मायने नहीं रखता। वे तो कहते थे कि यदि तुम तैंतीस करोड़ देवताओं में विश्वास करते हो तथा उनमें भी जो विदेशियों द्वारा यहाँ लाये गये हैं, पर अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो यह विश्वास किसी काम का नहीं होगा।

जीवन में सबसे बड़ा पाठ आत्मविश्वास का है। विवेकानन्द यह भी कहा करते थे कि बचपन में और कुछ न पढ़ाकर यदि आत्मविश्वास का ही पाठ पढ़ाया जाय, तो वह व्यक्ति के लिए महान् कल्याणकर होगा। हममें अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं, हमारे भीतर वह अनन्त शक्तिधर ब्रह्म ही छिपा है। पर हममें विश्वास की कमी है, इसीलिए हमारे भीतर का सुप्त शक्तिदेव जागता नहीं है। आत्मविश्वास ही वह रसायन है, जो सोये हुए इस देवता को जगा देता है। वह आत्मविश्वास ही तो है, जो मनुष्य को अन्तरिक्ष चीरकर चन्द्रमा पर जाने की क्षमता प्रदान कर रहा है। विज्ञान के आविष्कार, जो बीते कल असम्भव प्रतीत होते थे, आत्मविश्वास के ही फल हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि विश्व का इतिहास उन इने-गिने लोगों ने बनाया है, जिनका अपने आप में, अपनी क्षमता में दृढ़ विश्वास था। वे लोग यह मानते थे कि वे महान् होने के लिए ही पैदा हुए हैं और इसीलिए महान् बने।

यदि मनुष्य में आत्मविश्वास हो, तो समुद्र भी गोखुर में समाये जलवत् पार करने में सहज हो जाता है और यदि उसकी कमी हो, तो गोष्पद-जल भी दुर्लंघ्य हो जाता है।

आत्मविश्वास की साधना कठिन नहीं है। रात्रि में सोते समय और सुबह उठते ही अपने भीतर यह भाव उठाना चाहिए कि मुझमें असीम शक्ति है, मेरा अन्तःकरण अनन्त शक्ति का भण्डार है, मेरे रास्ते की बाधाएँ दूर होकर रहेंगी, मुझे अपना अभिप्सित लक्ष्य अवश्य ही प्राप्त होगा। इस चिन्तन का बारम्बार आवर्तन आत्मविश्वास को पुष्ट करेगा। हमारा मन नवीन शक्ति और दृढ़ता का अनुभव करेगा।

केवल एक सावधानी रखनी होगी कि आत्मविश्वास कहीं अभिमान की वृत्ति को न जगा दे। यह स्मरण रखना होगा कि अहंकार या अभिमान आत्मविश्वास का पर्याय नहीं है। वास्तव में अहंकार मनुष्य के भीतरी बल को बढ़ाने के स्थान पर उसका क्षय ही अधिक करता है। सच्चा आत्मविश्वासी व्यक्ति निरहंकारी होता है।
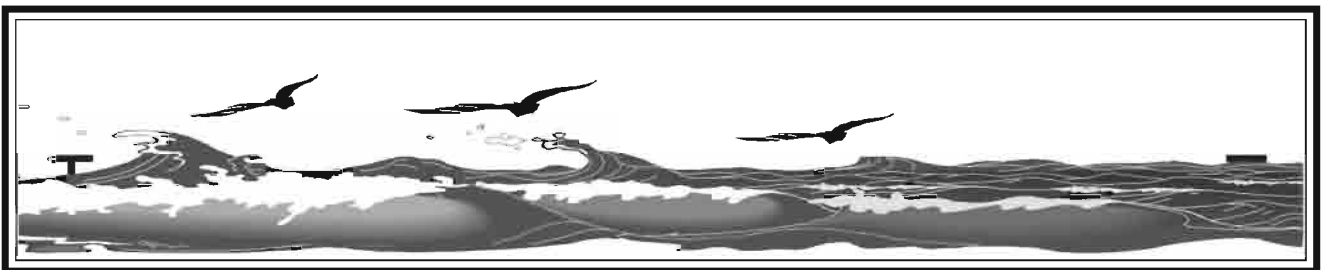
श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १९० –

धन का सदुपयोग करो

बहुत-से लोग अपने धन-दौलत को अपने शरीर के खून के समान प्रिय समझते हैं। परन्तु धन से कितना भी प्रेम किया जाय, एक दिन वह अपने स्वामी का साथ छोड़कर सदा के लिए निकल जाता है।

अत: जिनके पास धन है, उन्हें दान तथा सत्कर्मों में व्यय करना चाहिए। कंजूस का धन उड़ जाता है। दाता के धन की रक्षा होती है। जो लोग अपना धन दान आदि में व्यय करते हैं, वे बहुत फल – चतुर्वर्ग फल (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

कामारपुकुर में किसान लोग नाला काटकर खेत में पानी लाते हैं। कभी-कभी पानी का बहाव इतना तेज होता है कि खेत का मेड़ टूट जाता है और जल निकल जाता है, फसल बरबाद हो जाती है। इसीलिए किसान लोग बाँध के बीच-बीच में सूराख बना देते है, जिसे 'घोघी' कहते हैं। थोड़ा-थोड़ा पानी उन घोघियों में से होकर निकल जाता है, अत: पानी के बहाव से मेड़ नहीं टूटता और पूरे खेत में मिट्टी की परतें जम जाती हैं। उससे खेत उपजाऊ बन जाता है और बहुत धान पैदा होता है।

श्रीरामकृष्ण इस दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं कि जो लोग अपने धन का सदुपयोग करते हैं, ईश्वर तथा सन्तों की सेवा और दान आदि सत्कर्मों में खर्च करते हैं, वस्तुत: उन्हीं का धन कमाना सार्थक होता है। उन्हीं की खेती तैयार होती है।

– १९१ –

आशाएँ सहज ही पूरी नहीं होतीं

आषाढ़ का महीना था। बकरी का एक बच्चा अपनी माँ के पास खेल रहा था। उसने रासफूल* के बारे में सुन रखा था। वह अपनी माँ से बोला – "माँ, रासफूल खाऊँगा।"

बकरी बोली – "बेटा, अभी ठहर जा। रासफूल में अभी बहुत दिन बाकी हैं। पहले कुवार-कार्तिक के महीने भलीभाँति बीत जायँ, उसके बाद यदि जीवित बचे, तो रासफूल खाना। अभी तो तेरे लिए संकट-काल चल रहा है। कुवार के महीने में दुर्गापूजा होती है। उस समय कहीं कोई तेरी बलि चढ़ा दे! फिर कार्तिक के महीने में कालीपूजा का भयंकर काल है, उस समय भी ऐसी ही आशंका है। यदि तू इन दो खतरों से बच जाय, तो उसके थोड़े ही दिनों बाद जगद्धात्री-पूजा होती है। कहीं उसी में तेरी बलि न चढ़ा दी जाय। यदि तू इन सभी संकटों से बच निकला, तो फिर कार्तिक महीने की पूर्णिमा के दिन तू रासफूल खाने की आशा कर सकता है।"

झूठी आशा से प्रेरित होकर व्यक्ति शेखचिल्ली के समान दिवास्वप्न देखता रहता है। परन्तु किसी भी आशा की पूर्ति के पूर्व व्यक्ति को अनेक परीक्षाओं तथा संकट की घड़ियों से होकर गुजरना पड़ता है। अत: धैर्य धारण करना परम आवश्यक है।

– १९२ –

अपात्र को दान का फल

एक कसाई एक गाय को काटने के लिए ले जा रहा था। गाय मजबूत थी और उसके काबू में नहीं आ रही थी। बीच रास्ते में, एक जगह गाय ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। कसाई उसे कितना भी पीटता, परन्तु वह टस-से-मस नहीं हो रही थी। बड़ी मुसीबत थी! कसाई भूख-प्यास और थकावट के मारे तंग आ गया था।

उसने देखा किसी ने अपने घर पर श्राद्ध किया था। बहुत से लोगों को खिलाया था। तब उसने सोचा, इसके यहाँ श्राद्ध हो रहा है, वहाँ चलकर कुछ खा लूँ। इस तरह कुछ बल बढ़ जायेगा, तब गाय को ले जा सकूँगा। उसने गाय को एक पेड़ से बाँधा और जहाँ श्राद्ध का भोज हो रहा था, वहाँ बैठकर भरपेट भोजन किया।

भोजन के बाद उसके शरीर में शक्ति आ गयी और तब वह आसानी से उस गाय को कसाईखाने ले गया और उसकी हत्या की। इससे गोहत्या के पाप का बहुत-सा भाग उस श्राद्ध करनेवाले व्यक्ति को भी लगा, क्योंकि उसके भोजन से बल पाकर ही कसाई गाय को ले जाने में समर्थ हुआ था।

अत: भोजन आदि कोई चीज दान देते समय यह देखना चाहिए कि दान ग्रहण करनेवाला व्यक्ति कहीं दुर्जन या पापी तो नहीं है, कहीं वह उस दान का दुरुपयोग तो नहीं करेगा।

* कार्तिक पूर्णिमा के समय रास-उत्सव के उपलक्ष्य में जिन फूलों से राधा-कृष्ण की झाँकियाँ सजायी जाती हैं, उन्हें रासफूल कहते हैं।

– १९३ –
एक के प्रति निष्ठा रखो

जिसका काम कर रहे हो, उसी का करते रहो। एक ही आदमी की नौकरी से जी ऊब जाता है, फिर पाँच आदमियों की नौकरी भला कैसे कर सकोगे?

एक महिला किसी मुसलमान को देखकर उस पर मुग्ध हो गयी थी। उसने उसे मिलने के लिए बुलाया। मुसलमान आदमी अच्छा था, स्वभाव से साधु था। थोड़ी ही देर में वह सारी बात समझ गया। उसने कहा – "मैं पेशाब करूँगा, अपनी हण्डी ले आऊँ।" महिला ने कहा – "हण्डी तुम्हें यहीं मिल जायेगी, मैं तुम्हें दूसरी हण्डी दे दूँगी।" उसने कहा – "नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! जिस हण्डी के सामने मैंने एक दफे शर्म खोई, इस्तेमाल तो मैं उसी का करूँगा – नयी हण्डी के सामने फिर से बेईमान नहीं हो सकूँगा।"

यह कहकर वह चला गया। औरत की भी अक्ल दुरुस्त हो गयी; हण्डी का मतलब वह समझ गयी थी।

– १९४ –
पहले अर्जित करो, फिर बाँटो

पहले हृदय-मन्दिर में उनकी स्थापना करो। उसके बाद जी चाहे तो व्याख्यान, प्रवचन आदि देते रहना। यदि विवेक-वैराग्य न रहा, तो केवल 'ब्रह्म-ब्रह्म' कहने से क्या होगा? वह तो नाहक शंख फूकना हुआ!

किसी गाँव में पद्मलोचन नाम का एक लड़का रहता था। लोग उसे 'पदुआ' कहकर पुकारते थे। उसी गाँव में एक पुराना जीर्ण-शीर्ण मन्दिर था। अन्दर किसी देवता की मूर्ति नहीं थी – मन्दिर की दीवारों पर पीपल और अन्य प्रकार के पेड़-पौधे उग आये थे। मन्दिर के भीतर चमगादड़ अड्डा जमाये हुए थे। फर्श पर धूल और चमगादड़ों की विष्ठा पड़ी रहती थी। मन्दिर में लोगों का आना-जाना नहीं होता था।

एक दिन संध्या के थोड़ी देर बाद गाँववालों ने शंख की आवाज सुनी। मन्दिर की ओर 'भों-भों' शंख बज रहा था। गाँववालों ने सोचा कि किसी ने मूर्ति की स्थापना की होगी और संध्या के बाद अब आरती होनेवाली है। बच्चे-बूढ़े, नर-नारी सब दौड़ते हुए मन्दिर के सामने जा पहुँचे कि देवता का दर्शन करेंगे और आरती देखेंगे। मन्दिर के पट बन्द थे। उनमें से एक ने धीरे से मन्दिर का द्वार खोलकर देखा कि पद्मलोचन एक किनारे में खड़ा 'भों-भों' शंख बजा रहा है। देवता की स्थापना नहीं हुई है, मन्दिर में झाड़ू तक नहीं लगा है और चारों ओर चमगादड़ों की विष्ठा फैली हुई है। तब उसने चिल्लाकर कहा – "अरे पदुआ, तेरे मन्दिर में माधव तो हैं ही नहीं! तूने नाहक ही शंख फूँककर हलचल मचा दी है। इसमें तो ग्यारह चमगादड़ दिन-रात गश्त लगा रहे हैं।"

यदि हृदय-मन्दिर में माधव को स्थापित करने की इच्छा हो, यदि ईश्वर को प्राप्त करना चाहो, तो केवल 'भों-भों' शंख फूँकने से क्या होगा! पहले चित्तशुद्धि होनी चाहिए। मन शुद्ध होने पर भगवान उस पवित्र आसन पर आ विराजेंगे। चमगादड़ की विष्ठा रहते माधव को नहीं लाया जा सकता। ग्यारह चमगादड़ों का अर्थ है ग्यारह इन्द्रियाँ – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन। पहले माधव की स्थापना करो, बाद में इच्छा हो तो व्याख्यान आदि देना।

पहले डूबकी लगाकर रत्न निकालो, उसके बाद दूसरे काम करो। कोई गोता लगाना नहीं चाहता! न साधन, न भजन, न विवेक-वैराग्य – दो-चार शब्द सीख लिए, बस लगे भाषण देने! ईश्वर सत्य हैं, बाकी सब कुछ अनित्य; वे ही वस्तु हैं, बाकी सब अवस्तु – इसी का नाम विवेक है। शिक्षा देना कठिन काम है। ईश्वर-दर्शन के बाद यदि किसी को उनका आदेश मिले, तो वह लोकशिक्षा दे सकता है।

– १९५ –
लीला का आस्वादन करते रहो

ईश्वर मिलते हैं – ब्रह्मज्ञान होता है। इस अवस्था में सच्चा ज्ञान होता है – तब वास्तव में समझ पड़ता है कि मैं ठीक देख रहा हूँ, वे ही सब कुछ हुए हैं। उस समय त्याज्य और ग्राह्य नहीं रहते! किसी पर क्रोध करने की जगह नहीं रहती। मैं बग्घी पर चला जा रहा था। एक जगह बरामदे के ऊपर देखा, दो वेश्याएँ खड़ी थीं। देखा – साक्षात् भगवती। देखकर मैंने प्रणाम किया।

जब पहले-पहल यह अवस्था हुई तब मैं न माँ काली की पूजा कर सका और न उन्हें भोग ही दे सका। हलधारी और हृदय ने कहा, 'खजांची कह रहा है – भट्टाचार्यजी भोग नहीं देंगे तो और कौन देगा?' उसने कटूक्ति की, यह सुनकर मैं हँसने लगा, मुझे क्रोध नहीं आया। यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके फिर लीला का स्वाद लेते रहो।

कोई साधु एक शहर में तमाशा देखता हुआ घूम रहा था। उसी समय एक दूसरे परिचित साधु से भेंट हो गयी। उसने पूछा, 'तुम मौज से घूम रहे हो, तुम्हारा सामान कहाँ है? उधर सामान लेकर कोई नौ-दो ग्यारह तो नहीं हो गया?' पहले साधु ने कहा, 'नहीं महाराज, पहले डेरे की तलाश करके, डेरा-डण्डा वहाँ रखकर, ताला बन्द करके फिर शहर का रंग-ढंग देखने के लिए निकला हूँ।' "

❖ (क्रमशः) ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (१२)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

नास्त्येव तस्मिन् तत्सुख-सुखित्वम् ।।२४।।

अन्वयवयार्थ – **तस्मिन्** – उस (निम्नतर प्रेम) में, **तत्सुख** – प्रियतम के सुख में, **सुखित्वम्** – स्व-सुखबोध, **न-अस्ति-एव** – बिल्कुल भी नहीं है।

अर्थ – ऐसा इसलिये कि उस निम्नतर प्रेम में प्रियतम के सुख में सुखी होने का भाव नहीं होता।

गोपिकाओं के विषय में प्रश्न उठाया जाता है कि वे श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व के बारे में परिचित थीं या नहीं। ऐसा नहीं है कि गोपियों को श्रीकृष्ण की महानता का बोध नहीं था, परन्तु वे उसे महत्त्व नहीं देती थीं। गोपियाँ श्रीकृष्ण को अपना आत्मीय मानती थीं, इसलिये उनके मन में श्रीकृष्ण की महानता गौण थी। मान लो किसी माँ का पुत्र लोगों की दृष्टि में बड़े ऊँचे पद पर है। वह व्यक्ति दूसरे लोगों की नजर में भले ही महान् हो, पर माँ अपने पुत्र की महानता के बारे में नहीं सोचती। इसका अर्थ यह नहीं कि माँ उसकी महानता से अवगत नहीं है। वह उस महानता को महत्त्व नहीं देती। वह अपने पुत्र को उसकी महानता के कारण नहीं, बल्कि अपना पुत्र होने के कारण प्रेम करती है।

गोपियों के बारे में भी यही बात है। वे जानती थीं कि श्रीकृष्ण महान् हैं, पर उनके लिये उसका कोई महत्त्व नहीं था। मूल बात यह है कि वे श्रीकृष्ण से इसलिये प्रेम नहीं करती थीं कि वे महान् थे। तात्पर्य यह कि ऐसी बात नहीं कि वे उनकी महानता से अवगत नहीं थी, क्योंकि गोपियों ने गाया है – "आप सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, मात्र गोपियों को आनन्द देनेवाले नहीं हैं। आप अन्तरात्मा के रूप में सबके अन्तर्यामी हैं। ब्रह्मा की प्रार्थना पर पृथ्वी की रक्षा के लिये आपने यदुवंश में जन्म लिया है। वस्तुत: आप वही परम सत्य हैं, परन्तु हम अपने प्रेम के कारण ही आपको अपनी आँखों का तारा मानती हैं।"

एक अन्य आपत्ति यह उठाई जाती है कि सभी आसक्तियों को त्याग देना चाहिये, क्योंकि आसक्ति से बन्धन होता है। यदि गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति रही हो, तो वह भी बन्धनकारक होगी और उसे त्याग देना चाहिये। तो इसकी प्रशंसा कैसे की जा सकती है? इसे भक्त के लिये आदर्श भाव कैसे माना जा सकता है?

यह एक बड़ा ही प्रासंगिक प्रश्न है ! यह एक अनुभवजन्य सहज बात है कि आसक्ति व्यक्ति को बाँधती है। आसक्ति चाहे जिसके भी प्रति हो, वह बाँधती है। यदि गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति थी, तो गोपियाँ अवश्य बन्धन में रही होंगी। यह एक आदर्श स्थिति नहीं हो सकती।

यह आपत्ति उन लोगों के दृष्टिकोण से है, जिन्होंने कभी ऐसे प्रेम का आस्वादन नहीं किया है। वे सब कुछ एक ही पैमाने से मापते हैं कि हर प्रकार की आसक्ति बन्धनकारक होती है। नारद कहते हैं कि भगवान के प्रति आसक्ति को नहीं त्यागना है, उस आसक्ति से नहीं बचना है। क्यों? आप कह सकते हैं कि यह भी तो बन्धन का कारण है। परन्तु नहीं, यह बन्धन का कारण नहीं है। यहाँ आसक्ति का विषय आसक्ति के साधारण रूपों से बहुत भिन्न है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति रखती थीं, परन्तु श्रीकृष्ण सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। अत: यह आसक्ति उस प्रकार नहीं बाँधती, जैसा कि अन्य सामान्य सांसारिक आसक्तियाँ बन्धनकारक होती हैं।

इस तर्क को इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है – यदि आसक्ति के अन्य रूपों के मामले में ऐसा होता है, तो यहाँ क्यों नहीं? इसका उत्तर एक अन्य उदाहरण के द्वारा दिया गया है। साधुजनों के प्रति आसक्ति का उदाहरण लो। साधुजनों से आसक्ति होने पर क्या होता है? साधु की पवित्रता, उनके प्रति आसक्त व्यक्ति के मन को उन्नीत कर देती है। आम लोगों का यही अनुभव है। साधुसंग करनेवाले व्यक्ति के साथ ऐसा ही होता है। वह आसक्ति बाँधती नहीं, बल्कि मुक्ति प्रदान करती है। यदि गोपियाँ यह भूल जायँ कि श्रीकृष्ण एक दैवी सत्ता हैं, तो भी उनकी महानता गोपियों को अधोगामी नहीं, अपितु उन्हें उन्नीत ही करेगी, वैसे ही जैसे पवित्र व्यक्तियों का संग व्यक्ति को उन्नीत करता है।

गोपियाँ भले ही श्रीकृष्ण के माहात्म्य को विशेष रूप से मन में धारण न करें, पर वे महान् हैं, इसलिये उनके प्रति आसक्ति का प्रभाव उन्नत करनेवाला ही होगा। वह ठीक वैसे ही गोपियों का उन्नयन करेगा, जैसे कि हम जानते हैं कि साधुजनों की संगति में हम पवित्रता को आत्मसात् करते हैं। अच्छाई भी वैसे ही संक्रामक होती है जैसे बुराई। यदि हम बुरे लोगों का संग करें, तो हम उनकी बुराई ग्रहण करते हैं और यदि भले लोगों का संग करें, तो हम उनकी अच्छाई को आत्मसात् करते हैं। यह उस वस्तु के गुण के कारण होता

है, जिसके प्रति आसक्ति को उन्मुख किया जाता है। यदि हम श्रीकृष्ण को ईश्वर या अवतार न भी मानें और यदि हम उन्हें महानतम व्यक्ति भी मानें, तो क्या उस व्यक्तित्व के प्रति आसक्ति हमें उन्नीत नहीं करेगी? गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति ऐसी ही आसक्ति रखती थीं। इससे उन्हें मुक्ति मिल गयी। किससे मुक्ति? – उन्हें इन्द्रियों के बन्धन से, संसार के बन्धन से और उन विविध प्रकार के प्रलोभनों से मुक्ति मिल गयी, जिनमें साधारण लोग आबद्ध रहते हैं।

भक्त के लिये आदर्श क्या है? वह यदि आसक्ति है, तो उसमें ऐसी क्या विशेषता है, जो बन्धन की जगह मुक्ति लाती है? उस आसक्ति की क्या विशेषता है? नारद कहते हैं कि उसमें एक विशेष गुण है, जो गहराई में गये बिना ध्यान में नहीं आती। इस आसक्ति के हर बन्धनकारी रूप में हम पायेंगे कि व्यक्ति का किसी के प्रति प्रेम अपने प्रिय के आनन्द के लिये नहीं, बल्कि अपने आनन्द के लिये होता है। यदि हम किसी से प्रेम करते हैं, तो वह प्रेम या आसक्ति इसलिये नहीं होता कि हम उस व्यक्ति को सुखी बनाना चाहते हैं, बल्कि इसलिये होता है कि हम उसकी संगति में सुख प्राप्त करते हैं। अत: यहाँ आसक्ति का उद्देश्य नि:स्वार्थता नहीं, अपितु स्वार्थपरता है। किसी भी प्रकार के जागतिक सम्बन्ध में यह स्वार्थपरता जुड़ी ही रहती है। हम सुखी होना चाहते हैं, इसीलिये किसी व्यक्ति-विशेष की संगति चाहते हैं, क्योंकि हम उसकी संगति में सुख का अनुभव करते हैं।

नारद कहते हैं कि इसमें भक्ति की शर्त पूरी नहीं होती। तो भक्ति की सच्ची कसौटी क्या है? सच्ची कसौटी अपना सुख खोजने में नहीं, बल्कि अपने प्रिय व्यक्ति को सुखी बनाने में है। दिव्य प्रेम की यही विशेषता है।

किसी भी जागतिक प्रेम या आसक्ति के सम्बन्ध में कुछ असन्तोष रहने पर वह घृणा या द्वेष में बदल जाती है। यहाँ किसी पुरुष तथा स्त्री के प्रेम का उदाहरण लेना बड़ा उपयुक्त होगा। मान लो कोई अत्यन्त भावुक स्त्री किसी पुरुष से प्रेम करती है; परन्तु यदि उस प्रेम का प्रतिदान नहीं मिलता, तो वह वैसी ही घृणा में बदल जाती है। तात्पर्य यह कि प्रेमी अपने प्रिय के सुख में सुखी बनना नहीं चाहता, बल्कि वह अपने ही सुख के लिये प्रेम करता है। यह सुख व्यक्तिगत है, स्वार्थपूर्ण है; इसीलिये अपनी आशा के अनुरूप न होने पर यह घृणा का चरम रूप तक धारण कर सकता है।

परन्तु दिव्य प्रेम में ऐसा कभी नहीं होता। ऐसा इसलिये कि इसमें अपने आनन्द का नहीं, बल्कि प्रिय को सुखी बनाने का भाव रहता है। दिव्य प्रेम की मुख्य शर्त है – पूर्ण आत्म -त्याग। भक्त ईश्वर से प्रेम करता है, परन्तु वह ईश्वर से कोई प्रतिदान नहीं चाहता, बल्कि अपना सब कुछ उन्हें दे देना चाहता है। यही कसौटी, दिव्य प्रेम को किसी भी अन्य प्रकार के जागतिक प्रेम से – तीव्रतम या सर्वोच्च जागतिक प्रेम से भी – बिल्कुल भिन्न बना देती है।

यदि कहें कि जागतिक प्रेम में भी तो कहीं-कहीं कुछ मात्रा में आत्म-बलिदान का भाव दीख पड़ता है! ठीक है, पर यदि हम इसकी गहराई में जायें, तो देखेंगे कि जब प्रेम का निरन्तर और कभी भी प्रतिदान नहीं मिलता, तो वह घृणा का स्रोत बन जाता है। यह दर्शाता है कि इस प्रेम में, उसके विपरीत भाव – घृणा-द्वेष में परिणत हो जाने का खतरा है।

इससे सिद्ध हो जाता है कि इस जागतिक प्रेम में कुछ कमी है, कुछ अभाव है, जो दिव्य प्रेम में नहीं है। दिव्य प्रेम में भक्त अपने प्रिय को केवल देता है और उससे कभी किसी प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रखता। वह सर्वस्व अर्पित कर देगा, परन्तु कभी कोई प्रतिदान नहीं चाहेगा।

एक दिन श्रीरामकृष्ण एक धर्मसभा में भाग लेने गये। वहाँ कीर्तन-भजन आदि का आयोजन हुआ था और श्रीकृष्ण के वृन्दावन-लीला पर कीर्तन हो रहा था। कीर्तन का भाव था – श्रीकृष्ण वृन्दावन की एक अन्य गोपी चन्द्रावली के पास चले गये थे, इसलिये राधाजी रूठ गयी थीं। राधाजी की सखी ने उन्हें सांत्वना देने का प्रयास करते हुए कहा – "तुम क्यों रूठी हो? लगता है कि तुम कृष्ण के नहीं, वरन् अपने सुख के बारे में सोच रही हो।" राधाजी बोलीं – "उनके चन्द्रावली के कुंज में जाने के कारण नाराज नहीं हूँ। पर वे वहाँ गये क्यों? चन्द्रावली तो उनकी सेवा करना नहीं जानती।"[१] राधाजी नि:स्वार्थ प्रेम की सर्वोच्च उदाहरण मानी जाती हैं। उनके जीवन के उपर्युक्त दृष्टान्त में वे कहती हैं – "श्रीकृष्ण चन्द्रावली के कुंज में गये, इस विषय में मुझे कोई शिकायत नहीं, परन्तु मेरा खेद इस बात को लेकर है कि चन्द्रावली श्रीकृष्ण की सेवा करना नहीं जानती। श्रीकृष्ण कष्ट पा रहे होंगे, इसीलिये मैं दुखी हूँ।" इस दृष्टिकोण को देखो! श्रीरामकृष्ण ने बारम्बार इसे स्पष्ट किया है।

यह बड़ी सुन्दर उक्ति है और इसे इसके मूल परिप्रेक्ष्य में, ठीक ढंग से समझना होगा। यहाँ हम ऐसी बातों की चर्चा कर रहे हैं, जिन्हें बड़ी सावधानी से लेने की जरूरत है। चूँकि हमें उनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, अत: हमें जागतिक शब्दावली में उन पर चर्चा करनी पड़ रही है। तथापि हमें स्मरण रखना होगा कि इस सम्बन्ध में कुछ भी जागतिक नहीं है, अत: इसे बड़ी सतर्कता के साथ समझना होगा।

केवल श्रीकृष्ण तथा गोपियों के प्रसंग में ही नहीं, बल्कि पूरे सन्त-साहित्य में यत्र-तत्र ऐसी अभिव्यक्तियाँ मिल जाती हैं। यह केवल भारतीय सन्त-साहित्य में ही नहीं, अपितु अन्य देशों के और विशेषकर ईसाई सन्त-साहित्य में भी प्राप्त होती है। उसमें भी ऐसी ही शब्दावली का प्रयोग हुआ

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम खण्ड, १७वाँ संस्करण, पृ. २०१

है, क्योंकि ऐसे विचार एकमात्र उसी तरीके से किसी तरह व्यक्त हो सकते हैं। हमें भाषा के दुरुपयोग के विषय में और शब्दों के निहितार्थ के बारे में सावधान रहना होगा। ये भाव केवल उदाहरण के लिये हैं और इनमें ऐसे भाव निहित हैं, जिनसे हम अपरिचित हैं। इसलिये भाव को सम्प्रेषित करने के लिये ऐसी शब्दावली का प्रयोग करना पड़ता है, जिन्हें सामान्य बोलचाल में अमर्यादित मानते हैं।

ईश्वरप्रेमी के लिये इसमें कुछ भी अमर्यादित नहीं है। एक उदाहरण है, जिसमें ऐसा कोई भी अमर्यादित संकेत नहीं है। श्रीरामकृष्ण घोड़ेगाड़ी से कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक शराब की दुकान पड़ी, जहाँ कुछ लोग नशे में धुत पड़े थे। यह दृश्य देखते ही श्रीरामकृष्ण को समाधि लग गयी। उन्होंने शराब या उनके नशे के बारे में विचार ही नहीं किया था। मात्र उस दृश्य ने ही उनके मन में ईश्वर-प्रेमी की 'उन्मत्तता' का भाव जाग्रत कर दिया और उनका मन तत्काल समाधि में डूब गया। इसीलिये यदि आधार शुद्ध-पवित्र हो, तो जागतिक उद्दीपनाएँ भी व्यक्ति को दिव्य प्रेम में उन्नीत कर देंगी। अत: इन भावनाओं को प्रकट करने के लिये ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया गया है, क्योंकि उनसे किसी प्रकार का अमर्यादित तात्पर्य अभिव्यक्त नहीं होता। तो भी, जो लोग उनका अध्ययन करेंगे, उन्हें इन्द्रियों के अधोगामी होने से अपने मन को बचाना होगा। मैं यह बात इसलिये कह रहा हूँ कि इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है और वह बात यह है कि हम जागतिक प्रेम के बारे में नहीं, बल्कि ईश्वरीय प्रेम के बारे में चर्चा कर रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण प्रेम के कई प्रकार बताते हैं – 'साधारण' 'समंजस' और 'समर्थ'। ''पहला जो 'साधारण' प्रेम है उसमें प्रेमी केवल अपना ही सुख देखता है। वह इस बात की चिन्ता नहीं करता कि दूसरे व्यक्ति को भी उससे सुख है या नहीं। इस प्रकार का प्रेम चन्द्रावली का श्रीकृष्ण के प्रति था। दूसरे 'सामंजस्य' रूप प्रेम में दोनों एक दूसरे के सुख के इच्छुक होते हैं। यह एक ऊँचे दर्जे का प्रेम है, परन्तु तीसरा प्रेम सबसे उच्च है। इस 'समर्थ' प्रेम में प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है, 'तुम सुखी रहो, मुझे चाहे कुछ भी हो।' राधा में यह प्रेम विद्यमान था। श्रीकृष्ण के सुख में ही उन्हें सुख था। गोपियों ने भी यह उच्च अवस्था प्राप्त की थी।''[२]

दिव्य प्रेम में जरा भी स्वार्थपूर्ण भाव नहीं होता, जबकि इसके विपरीत – सांसारिक भाव में अपने प्रिय को सुख देकर सुखी होने का भाव नहीं होता। इस दिव्य प्रेम में अपने लिये कुछ भी अपेक्षित नहीं होता, प्रिय को सुखी बनाना ही प्रेमी की एकमात्र चिन्ता होती है। इस पवित्र प्रेम की यही कसौटी है। श्रीरामकृष्ण गोपियों का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं – गोपियों की प्रेमाभक्ति थी; इसमें दो बातें रहती हैं – 'अहंता' और 'ममता'। दो पहलू हैं – 'मैं ईश्वर को प्रेम करता हूँ' और 'ईश्वर मेरे अपने हैं'। भक्त अपनी स्वयं की सत्ता को ईश्वर के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ पाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – 'मैं भगवान का भक्त हूँ' – यहाँ 'मैं' का अर्थ है 'पक्का मैं' और 'ममता' का अर्थ होता है – 'भगवान मेरे अपने हैं।' पहली बात है – वह दिव्य अहंभाव कि 'यदि मैं ईश्वर की सेवा नहीं करूँगा, तो उन्हें कष्ट होगा।' भक्त सामान्य अर्थों में अहंकारी नहीं होता, बल्कि इसलिये होता है कि वह इसी ढंग से सोचता है। दूसरी बात, उसका भाव यह रहता है कि भगवान उसके अपने हैं। अत: जैसे हम अपना समग्र मनोयोग अपने लगनेवाले लोगों के सुख की ओर लगा देते हैं, वैसे ही भक्त का मनोयोग उसके प्रेमास्पद प्रभु के सुख पर केन्द्रित हो जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि यदि मन में हमेशा प्रिय की दिव्यता का ज्ञान बना रहे, तो उनकी सेवा नहीं हो सकती, विशेषकर वात्सल्य तथा मधुर भाव में। ये दोनों भाव प्रेम के अतीव कोमल रूप हैं, अत: प्रेमास्पद में दिव्यता का बोध होने पर ये भाव उसके साथ नहीं चल सकते। वह बोध प्रेम की तीव्रता और अन्तरंगता को कम कर देता है, अत: उसे पृष्ठभूमि में रख दिया जाता है। ऐसी बात नहीं है कि वहाँ वह ज्ञान नहीं रहता – गोपियों के प्रेम में वह ज्ञान था। ईश्वर और भक्त के बीच का यह कोमल सम्बन्ध बड़ी नाजुक चीज है, क्योंकि यह भाव उदाहरण के रूप में कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। जिन्हें इसकी अनुभूति हुई है, केवल वे ही इसे समझ सकते हैं। भक्त के अलावा अन्य कोई भी इसे समझने में समर्थ नहीं होगा। हम अपने मन को जिस हद तक उस अनुभूति की अवस्था में समायोजित कर लेते हैं, उसी हद तक वह हमारे लिये बोधगम्य होगा। अन्यथा, लोग इस भाव पर केवल व्यंग-वाणों की वर्षा ही करते हैं और यह भाव एक हास्यास्पद वस्तु होकर रह जाती है।

भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण के साथ गोपियों की लीला सांसारिक शब्दावली से परिपूर्ण है और इसीलिये परिहास का विषय बन गयी है; विशेषकर उन लोगों द्वारा जिन्हें उन भावों के विषय में कोई धारणा नहीं है। वे सोचते हैं कि ईश्वरानुभूति के लिये एक साधना के रूप में प्रशंसित होनेवाला यह प्रेम, जागतिक प्रेम का ही एक निम्नगामी रूप है; पर सही सोच तथा सहानुभूति की कमी के कारण ही ऐसा होता है।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि सन्त लोग ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को कैसे अभिव्यक्त करते हैं। कुछ ईसाई सन्त स्वयं को नारी और ईश्वर को अपना प्रेमी मानते हैं। आत्मा तो सदैव स्त्रीलिंग होती है और सन्त-साहित्य में यह ईश्वरीय प्रेम पुरुष-नारी के प्रेम के रूप में वर्णित हुआ है। जगत् के

२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय खण्ड, १४वाँ संस्करण, पृ. ९१४

सापेक्ष स्तर पर व्यक्त होनेवाले प्रेम का सम्भवत: यही प्रबलतम भाव है और इसे एक ऐसे साधारण व्यक्ति को भी समझाया जा सकता है, जिसे इसका कुछ अनुभव है।

तथापि इस बात को बड़ी सावधानीपूर्वक समझना और याद रखना पड़ता है कि इस दिव्य प्रेम में कुछ भी जागतिक नहीं होता और जागतिक प्रेम से तुलना करने योग्य भी उसमें कुछ नहीं होता। इसमें सर्वदा सर्वश्रेष्ठ भावना होती है, जो पूर्णत: आध्यात्मिक होती है और उसका हमारे अस्थि-चर्ममय स्थूल प्रेम के साथ कोई सादृश्य नहीं होता।

मन में सतत यह विचार जाग्रत रहे बिना, प्रेमयोग के साहित्य का अध्ययन ऊर्ध्वगामी की जगह अधोगामी बनाने वाला ही होगा। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द सामान्य लोगों को दिव्य प्रेम की ऐसी कथाओं को पढ़ने से मना करते थे, क्योंकि ये कथायें उनके अपरिपक्व मन में उनकी सुपरिचित तथा उनके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उस सांसारिक प्रेम को जगा सकती हैं। जब मन ऐसे समस्त निम्नगामी विचारों से शोधित होकर पूर्णत: पवित्र हो जाय, केवल तभी व्यक्ति इन कथाओं को समझने और उन पर विस्तृत चर्चा करने का अधिकारी होता है।

सामान्य साधक के लिये अन्य मार्ग भी हैं। सुरक्षा की दृष्टि से ईश्वर के प्रति पिता, माता, सखा या स्वामी का भाव रखना बेहतर है। इसके परे जाने से कठिनाइयाँ आ सकती हैं। अत: खतरों से बचने के लिये ईश्वर के प्रति पिता या माता का भाव रखना बेहतर है। छलाँग लगाकर सर्वोच्च स्थान पर पहुँचने का प्रयास करने की तुलना में अच्छा यही होगा कि हम जहाँ हैं, वहीं से शुरुआत करें। जब तक हम इतने पवित्र नहीं हो जाते कि ईश्वर को अपना प्रियतम मानकर प्रेम की चर्चा करते समय, हमारे मन में कोई भी सांसारिक भाव न जागे, जब तक हममें वह चिर पवित्रता नहीं आती, तब तक हम इन बातों को नहीं समझ सकते और इसीलिये स्वामीजी ने हमें इस पथ पर चलने से मना किया है।

ईश्वर के प्रति व्यक्ति कई तरह के भाव रख सकता है। श्रीरामकृष्ण ने जिस भाव को सर्वाधिक सुरक्षित बताया है, वह है स्वामी-सेवक का भाव अर्थात् – 'ईश्वर मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ।' यह एक बड़ा ही सहज भाव है। या फिर यदि कोई इससे थोड़ा ऊपर उठ सके, तो वह ईश्वर को अपना सखा या पुत्र मान सकता है। जब कोई व्यक्ति ईश्वर के प्रति सखा-भाव रखता है, तो ईश्वर करीब उसी के स्तर के हो जाते हैं। मित्रता सदैव बराबरी या समानता में होती है। यदि कोई व्यक्ति इससे भी थोड़ा आगे जा सके, तो वह ईश्वर के प्रति सन्तान का भाव रख सकता है और उसमें बालक को अपने माता-पिता से संरक्षण की जरूरत होती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के भाव हो जाते हैं।

और सर्वाधिक कठिन है दो प्रेमियों के बीच का सम्बन्ध – मधुर भाव, जो दो मनों को एक साथ जोड़ता है और उन्हें एक बनाता है। यही सर्वोच्च प्रेम कहलाता है। इन भावों में से किसी एक की पूर्ण अभिव्यक्ति ही काफी है – ईश्वरप्राप्ति के लिये यही पर्याप्त होगा। स्वामी-सेवक का भाव, सखा-भाव, या ईश्वर को अपनी सन्तान और स्वयं को माता-पिता मानने का भाव – ये सम्बन्ध ईश्वर की प्रगाढ़ अनुभूति उत्पन्न करने में सक्षम हैं और किसी को अपने भाव में परिवर्तन लाने की जरूरत नहीं है। शास्त्रों का ऐसा मत या व्यवहारिक तौर पर ऐसा उचित नहीं है कि कोई व्यक्ति अपना भाव बदलकर, स्वामी-सेवक का सम्बन्ध छोड़कर सख्य-भाव के सम्बन्ध में पहुँचे, या फिर वात्सल्य-भाव तक जाये और अन्तत: दो प्रेमियों के मधुर-भाव तक पहुँचे। इस प्रकार का कोई कोटि-निर्धारण आवश्यक नहीं है, बल्कि इन भावों में से कोई भी एक भाव दिव्य प्रेम की समग्र अनुभूति उत्पन्न करेगा। एक साधक के लिये उसी भाव से शुरू करना अधिक सुरक्षित है, जिसे वह समझ सके और जिसका वह सहज ही अनुभव कर सके, ताकि उसकी सम्पूर्ण ऊर्जा पूरी तौर से उसी ओर उन्मुख हो सके। किसी दूसरे की नकल करने की अपेक्षा यही बेहतर है। वस्तुत: हम सभी लोग कुछ जन्मजात स्वाभाविक प्रवृत्तियों के साथ पैदा हुये हैं और इन भावों में से एक-न-एक भाव का अनुसरण करना ही हमारे अनुकूल होता है, अत: ऐसी बात नहीं है कि हम उन भावों में से किसी एक को चुन सकते हैं। यह हमारे भीतर अन्तर्निहित है, इनमें से किसी एक का अनुसरण करना हमारी मूलभूत स्वाभाविक जरूरत होती है और कोई भी एक भाव हमें उच्चतम ईश्वरानुभूति प्रदान करने के लिये पर्याप्त है।

सा तु कर्म-ज्ञान-योगेभ्योऽप्यधिकतरा ।।२५।।

अन्वयवार्थ – **सा** – वह (भक्ति), **तु** है, **कर्म-ज्ञानयोगेभ्य: अपि** – कर्म, ज्ञान, योग मार्गों से भी, **अधिकतरा** – उत्कृष्ट।

अर्थ – वह भक्ति कर्म, ज्ञान और योग के पथों से बढ़कर है।

फलरूपत्वात् ।।२६।।

अन्वयवार्थ – **फल-रूपत्वात्** – फल के स्वरूपवाली होने के कारण।

अर्थ – क्योंकि यह (भक्ति) स्वयं में ही परिणाम (लक्ष्य) के स्वरूप वाली होती है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

ईशावास्योपनिषद् (१०)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

शास्त्र कहते हैं कि यदि आत्मघात से बचना चाहते हो और परमानन्द को पाना चाहते हो, तो जीवन में काम, क्रोध, और लोभ इन तीनों का त्याग करो, ये तीनों नरक के द्वार हैं –

'त्रिविधं नरकस्येदम् द्वारम् नाशनम् आत्मनः ।
कामः क्रोधः तथा लोभः तस्मात् एतत् त्रयम् त्यजेत् ।।

काम, क्रोध, लोभ के बाद, चौथा लक्षण है – यदि हम भोग करने के लिये दीर्घजीवी होना चाहते हैं, तो हम आत्मघाती हैं। इन चारों लक्षणों वाले व्यक्ति को हम आत्मघाती कह सकते हैं। कैसा दुर्भाग्य है कि ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनमें चारों लक्षण होते हैं। यदि ये लक्षण हमारे में हैं, तो वे हमें भी उस असुर लोक में ले जायेंगे। आइये, सूक्ष्म दृष्टि से हम विचार करें कि किसी वस्तु का या आत्मा का घात करना क्या है?

जिस वस्तु को प्रकृति ने या हमने जिस काम के लिये बनाया है, उसका वैसा उपयोग न करें और यदि उसका दुरुपयोग करें, तो वह उस वस्तु के प्रति घात कहा जायेगा। कैसे? जैसे यह संसार तो विचित्र पुस्तक है। यदि आँख, कान खोलकर देखेंगे-सुनेंगे तो समझ में आयेगा। 'गन्ना' को प्रकृति ने बनाया है। इसका रस स्वादिष्ट, मीठा है। यदि उसको पीकर हम स्वयं पुष्ट हों और भोजन में उसका उपयोग कर सुस्वाद बनायें, तो उसका सदुपयोग है। किन्तु उसके बदले यदि उससे शराब बनायी जाय, तो यह गन्ने का दुरुपयोग है। जिस प्रयोजन से प्रकृति ने गन्ना उपजाया, वह प्रयोजन नष्ट हो गया। यह गन्ने का घात हो गया।

मनुष्य का इतना महान् जीवन ! इस विश्व-ब्रह्माण्ड में इससे श्रेष्ठ कहीं कुछ भी नहीं है। ऐसे महान् जीवन को केवल सांसारिक भोगों में डूबा देना, नाम-रूपात्मक जगत् के मोह में फँसा देना तथा इन्द्रिय और मन का दास बनकर भोग में डूबा देना, आत्मघात है। मनुष्य जीवन मुक्ति-प्राप्ति के लिये, ईश्वर-प्राप्ति के लिये मिला है। किन्तु इसका दुरुपयोग किया तो उससे बढ़कर आत्मघात और क्या हो सकता है?

उपनिषदों में स्वर्गलोक, देवयोनि की बातें हैं। पाप से असुरयोनि मिलती है, तो क्या हम बहुत पुण्य करें और देवयोनि में जायँ? क्या यह देवयोनि वरेण्य है? क्या देवयोनि में जाने की इच्छा करनी चाहिये? भगवान शंकराचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते हैं – **असूर्याः परमात्मभावम् अद्वयापेक्ष देवादयः अपि आसुराः** – परब्रह्म परमात्मा की तुलना में वह देवयोनि आदि भी असुर योनि है। अर्थात् जब तक हम जन्म और मरण के चक्र से मुक्त नहीं होते हैं, चाहे देवता होकर जन्में या कीट-पतंग होकर जन्में, वे सब असुर योनियाँ हैं। यह देवयोनि ऐसी क्यों है? क्योंकि देवलोक में भी भोग है। जिसने बहुत पुण्य किया, उसको इन्द्रलोक मिला और जिसने कम पुण्य किया, उसको दूसरा लोक मिला। इससे भोग की वही इच्छा रह गयी। **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** – जिस दिन पुण्य की कमाई समाप्त हो जायेगी, उस दिन हम मर्त्यलोक में आ जायेंगे। शंकराचार्य कहते हैं कि जन्म लेना ही असुर योनि है। चाहे हम किसी भी योनि में जन्म क्यों न लें।

अत: आदर्श क्या है? हमारा कैसा प्रयत्न होना चाहिये कि हम इसी जीवन में जन्म-मरण के चक्र से छूट जायँ और हमें मुक्ति मिल जाय? जीवन-मुक्ति का आदर्श तो सबसे बड़ा आदर्श है। मन में कम-से-कम यह विचार तो रखें कि मरने के बाद फिर इस संसार में हमें न आना पड़े। अपने मन की परीक्षा करके देखेंगे तो अधिकांश लोग यह मुक्ति नहीं चाहते हैं। संसार में रहते हुये, सब अनुकूलताओं का भोग करते हुये भी क्या कभी ऐसा लगता है कि यह संसार हमें अब नहीं चाहिये? क्या हम जन्म-मृत्यु के झंझट से छूटना चाहते हैं? जिन्हें इस सांसारिक-ताप का बोध नहीं होता, वे लोग आत्मघाती हैं। जो लोग जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे रहकर नाम-रूप के द्वारा संसार को भोगना चाहते हैं, ऐसे लोग मरने के बाद असुर लोकों में जाते हैं। यदि एक बार हम नाम-रूप के चक्र में फँस गये, इन्द्रियों के अधीन हो गये, तो फिर विवेक जगाना बहुत कठिन हो जाता है, फिर मनुष्य उसी देह में पशुतुल्य भोग करने लगता है और तब वह सचमुच कीट-पंतग, भूत-पिशाच आदि दूसरे लोकों या योनियों में चला जाता है। उसका विवेक, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अत: इस बात का विशेष ध्यान रखें कि स्वर्ग में जाने की इच्छा भी हमारे मन में न आये। इसीलिये उपनिषद कहते हैं कि स्वर्ग-लोक से भी पुन: नीचे आना पड़ेगा, जहाँ तुम्हें दु:ख होगा। जहाँ मुक्ति की कामना नहीं रह जाती, वहाँ अन्धकार है, इसलिये इससे बचना चाहिये और मुक्ति की कामना करनी चाहिये। एक बात यहाँ स्मरण

रखनी चाहिये, क्योंकि हमारी धारणा है, संसार में रहने की वासना है। जब हम दूसरे लोक में जाने की बात सुनते या पढ़ते हैं, तो हम सोचते हैं कि पृथ्वी जैसी है, वैसे ही दूसरा लोक भी होगा, वैसे ही भौगोलिक स्थिति वहाँ भी होगी। वस्तुत: यहाँ कोई भौगोलिक स्थिति नहीं, एक देश से दूसरे देश में जाने की बात नहीं है। विद्वान् आचार्यों ने यह बात बताई है कि यह भावान्तर है। जैसे हम मनुष्य हैं तो प्रत्येक मनुष्य को इस बात का ज्ञान रहता है कि मैं मनुष्य हूँ। ऐसा मनुष्य यदि अविवेकी हो जाय, दुष्कर्म करने लगे, मनुष्य योनि में अशुभ कर्म करने लगे और मरने के बाद उसे कुत्ते के समान जीवन बिताने पड़े, तो कुत्ते की योनि में उसका जन्म हो जाता है। कुत्ते की योनि में जन्म हुआ तो क्या हुआ? मनुष्य के देह में उसका जो भाव था कि मैं मनुष्य हूँ, उसका वह भाव समाप्त हो गया और भावान्तर हो गया कि मैं कुत्ता हूँ। जैसे मनुष्य को लगता है कि 'मैं मनुष्य हूँ', वैसे ही कुत्ते को भी लगता है कि 'मैं कुत्ता हूँ'। उसका मनुष्य का भाव समाप्त हो गया और वह कुत्ते के भाव में परिवर्तित हो गया है। असुरलोक में जाने पर भी इसी प्रकार भावान्तर होता है। मूढ़तम पशुदृष्टि अगर मनुष्य-देह में आ जाय, तो वह यहीं पशु के सामान हो जाता है। इसलिये हमें यह देखना पड़ेगा कि हमारा मन, हमारी भावना, हमारी बुद्धि किस में प्रतिष्ठित है? हमको आत्मघाती होने की इच्छा है या आत्मज्ञानी होने की? यदि हम आत्मज्ञानी होना चाहते हैं, परमात्मा की प्राप्ति करना चाहते हैं, तो वह परमात्मा कैसा है? ऋषि अगले चौथे मन्त्र में इसका निरूपण कर रहे हैं –

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति
तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।

– वह परमात्मा एक और अचल है। उसकी गति मन से भी अधिक तेज है। वह सबका आदि एवं ज्ञानस्वरूप है। उसे इन्द्रियाँ या कोई भी देवता सम्पूर्णत: नहीं जान सकते। यह परमेश्वर स्थिर रहता हुआ ही दूसरे दौड़नेवालों का अतिक्रमण कर जाता है। इसकी सत्ता से ही वायु आदि देवता जल-वर्षण आदि अपनी-अपनी क्रियायें सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। एजत् – जिसमें गति हो, अनेजत् – जिसमें कोई गति नहीं हो। वह परमात्मा कैसा है? उसमें कोई कम्पन नहीं है, गति नहीं है। एकम् – अद्वितीय वह एक ही है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है। मनस: जवीयो – वह मनसे भी तेज गति वाला है। अब जिसमें कम्पन नहीं, गति नहीं, फिर भी उसकी गति तेज कैसे हो सकती है? मन की गति के विषय में कल्पना करके देखें। संसार में गति का ज्ञान जितना वैज्ञानिकों को है, वह सब मन की गति के सामने कुछ भी नहीं है। केवल ईश्वर या आत्मा ही ऐसा है, जो मन की गति से अधिक वेगवान है। हम क्षण के कोटि अंश में ब्रह्मलोक का ध्यान करते हैं। जब हम यहाँ बैठते ही किसी भी जगह का स्मरण करके मन से वहाँ पहुँच जाते हैं, तब ऐसी महान् आत्मा मन की गति से भी अधिक तीव्र गतिमान है, ऐसा कैसे होता है? ऋषि हमको बताते हैं 'नैनद्देवा आप्नुवन्' – प्रकाशित करने वाले तत्त्व को देव कहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ इस जगत् को प्रकाशित करती हैं, इसलिये इन्द्रियों को भी देव कहते हैं।

इस आत्मा को न तो देवता पा सकते हैं और न इन्द्रियाँ ही। क्योंकि 'पूर्वमर्षत्' – जहाँ-जहाँ हमारा मन और हमारी इन्द्रियाँ जाती हैं, वहाँ-वहाँ आत्मा पहले ही पहुँची हुई होती है। हमारा मन बिना इन्द्रियों की सहायता के देख भी नहीं सकता है। प्रत्येक इन्द्रियों के साथ जब मन जुड़ता है, तभी हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, नहीं तो नहीं कर सकते। लेकिन ये इन्द्रियाँ और मन ईश्वर या परमात्मा को नहीं जान सकते। इन्द्रियाँ कैसे जान सकेंगी? क्योंकि जब इन्द्रियाँ पहुँचती हैं, तो देखती हैं कि वहाँ पहले से ही आत्मा विराजमान है। हमारे शास्त्रों में एक उदाहरण बताया गया है, जो सबके निकट है – वह है आकाशतत्त्व। सोचकर देखिये, क्या कोई भी व्यक्ति आकाश के पार जा सकता है? आप कैसा भी रॉकेट बना लें, किन्तु वह आकाश के पार नहीं जा सकता। आत्मा आकाश से भी महान है, तो इन्द्रियाँ उस आत्मा को कैसे जान सकेंगी? जो इन्द्रियाँ आकाश को लाँघकर नहीं जा सकती हैं, जो देवता आकाश को लाँघकर नहीं जा सकते, वे आत्मा को कैसे लाँघ सकते हैं? इसलिये देवता उसे नहीं पा सकते। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् – वह एक स्थान में रहते हुये, कूटस्थ रहकर, बिना चले-फिरे, दूसरे सब दौड़नेवालों के आगे हो जाता है। यहाँ विरोधाभास लगता है। जैसे आकाश में हम जितना भी तेजी से दौड़ें, लेकिन आकाश हमसे आगे रहेगा, हम हमेशा पीछे ही रहेंगे। आकाश तो स्थिर है, फिर भी वह हमको पराजित कर देता है। उसी प्रकार मन सबसे तेज दौड़ता है, किन्तु ये मन और इन्द्रियाँ कितना भी दौड़ें, ये ईश्वर के आगे नहीं जा सकते हैं। क्योंकि वह सर्वव्यापी है। तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति – उसी आत्मा की सत्ता के कारण ही महान वायु या सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा सामर्थ्यवान होता है। उसी की शक्ति से वायु बादलों को लाकर वर्षा कराती है। इसलिये आत्मघात या मृत्यु से बचने के लिये हमको उस आत्मा की शक्ति को, उस सत्य को जानना जरूरी है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (३९)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

बैंगलोर (कर्नाटक)

ऊटी के बाद बैंगलोर गया। किसी तरह वहाँ पहुँच गया और फिर हाथ में कुछ भी नहीं था। पूज्य तुलसी महाराज ने पहले ही यहाँ के उपाध्यक्ष को पत्र लिख दिया था। घूमने-फिरने से शरीर बहुत दुर्बल हो गया था। विशेषकर मलाबार (केरल) में, कभी-कभी चावल और रोटी मिली थी, परन्तु अधिकतर इडली, डोसा, कॉफी, केले आदि ही मिलते थे। भोजन में तेज मिर्च भी रहती थी। ऊटी में शरीर काफी ठीक हो गया था। फिर बैंगलोर में एक महीना रहने के बाद और भी स्वस्थ हो गया। यद्यपि बैंगलोर में दो महीने रहने की बात थी, परन्तु उसके पहले ही वहाँ से चल दिया।

ईश्वर की इच्छा से ठीक उसी समय स्वामी सिद्धानन्द का पत्र मिला – " 'सत्कथा' पुस्तक के दूसरे भाग का दूसरा संस्करण छपवाने की व्यवस्था हुई है। लाटू महाराज के बारे में एकत्र तथ्यों का संक्षेपण करके उनकी एक जीवनी लिखनी होगी।" उत्तर में मैंने लिखा – "पैसों का अभाव है, प्रभु ही जाने, कब काशी जा सकूँगा।" उनके द्वारा पूरा रेल-भाड़ा देने का प्रस्ताव आने पर मैंने वह राशि उधार ली और मैसूर आश्रम देखने के बाद पूना होते हुए वाराणसी आ गया।

काशी में – अद्‌भुतानन्द-जीवनी

वाराणसी पहुँचकर मैंने वहाँ के श्रीरामकृष्ण-अद्वैत-आश्रम में आश्रय लिया और सत्र के अन्न से उदरपूर्ति करने लगा। वहाँ रहकर मैंने लाटू बाबा (स्वामी अद्‌भुतानन्द) की जीवनी लिखी और उसे सिद्धानन्दजी को सौंप दिया। बाद में वह उद्‌बोधन-कार्यालय से प्रकाशित हुई थी। उसके लेखन के समय, पत्र द्वारा कालक्रम के बारे में कुछ शोध करने और तथ्यों को ठीक से सजाकर लिखने में डेढ़ महीने से थोड़ा अधिक समय लगा था। परन्तु समय के बारे में कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सका, अत: जो सामग्री उपलब्ध थी, उसी के आधार पर लिखने को बाध्य हुआ था।

हरिद्वार का कुम्भ – १९२७-२८

काशी से ठीक कुम्भ (१९२७-२८ ई.) के पूर्व हरिद्वार – कनखल गया। सिद्धानन्दजी तथा अन्य अनेक लोगों के साथ यह यात्रा हुई थी। सेवाश्रम में ही सबको स्थान मिला। भोजन ठीक से पक नहीं रहा था। उसी विषय पर एक सभा हुई, पूज्य कालीकृष्ण महाराज, कृष्णलाल महाराज, अमूल्य महाराज, रामदा, प्रियदा आदि भी उपस्थित थे। ...

कुम्भ के बाद मैं ऋषिकेश चला गया। वहाँ पहुँचकर सत्र में भिक्षा करते हुए सोच रहा था कि कहाँ ठहरूँ? इतने में शंकरनाथ से भेंट हुई। (ये शान्तिनाथजी के गुरुभाई थे)। वे उन दिनों 'हाथ-कटे ब्रह्मानन्द' की कुटिया में रहते थे। मुझे भी वहीं ले गये। ये हाथ-कटे ब्रह्मानन्दजी उदासी सम्प्रदाय के थे और उनसे मेरा पहले से ही परिचय था। मुझे देखते ही उन्होंने पहचाना और प्रसन्न होकर एक कमरा खुलवा दिया, परन्तु एक बात मैंने देखी – जिस आश्रम में पहले तिल तक रखने की जगह नहीं मिलती थी, उसके अनेक कमरे इस कुम्भ के समय भी खाली थे। जिस हॉल में पहले प्रतिदिन 'ग्रन्थ-साहब' का पाठ होता था और सुननेवालों से कमरा भर जाता था, उसमें कुछ वैष्णव बाबाजी लोग ठहरे हुए थे। पर बाहर के हम केवल दो लोग ही थे और स्वयं ब्रह्मानन्दजी थे – दीन-हीन अवस्था में, अब वह तेज न था। मन-ही-मन सोच रहा था – मामला क्या है? संध्या को ब्रह्मानन्दजी ने मुझे अकेले में बुलाकर पूछा – "कुछ बदलाव देख रहे हैं?"

मैंने कहा – "हाँ, काफी बदलाव देख रहा हूँ। सब इतना खाली-खाली है ! क्या बात है?"

उन्होंने कहा – "मैंने ठीक ही सोचा है कि आपके मन में यह बात उदय होगी और एक बात आपको बताना जरूरी भी है, क्योंकि इस बात को लेकर बाद में कोई चर्चा उठ सकती है, अत: उसे बताना जरूरी है। या हो सकता है कि सुनकर आप भी यह स्थान त्याग कर जाना ही उचित समझें, इस कारण भी कहना आवश्यक है। बात मेरे व्यक्तिगत जीवन से जुड़ी है और उसके कारण आज मैं समाज में निन्दित, जाति-च्युत हूँ और जिसके कारण यह आश्रम आज कुम्भ मेले के समय भी खाली-खाली है, रौनक नहीं है।" चुप रहकर थोड़ी गहरी साँस लेने के बाद वे दृढ़ स्वर में पुन: कहने लगे – "सोचा है कि आपको बताऊँगा। आपके साथ परिचय था, इसलिए स्पष्ट बता देता हूँ। लोग मुझे भ्रष्ट-चरित्र कहते हैं, क्योंकि मैंने एक विधवा का पाणिग्रहण किया है। सुनकर शायद आप भी मुझसे घृणा करेंगे। मैं प्रतिवर्ष पंजाब में

अमृतसर जाता था और ग्रन्थ-साहब का पाठ आदि करता था। यहाँ का रौनक या दबदबा वहीं के लोगों के ऊपर निर्भर था। वहीं एक विधवा के साथ मेरा प्रेम हो गया, परन्तु गुप्त सम्बन्ध को मैं महापाप समझता हूँ, अत: यहाँ आकर मैंने पूरे साधु-महन्त-समाज को निमंत्रित किया और सभा में स्पष्ट रूप से बताया कि मैं ऐसे प्रेम में पड़ गया हूँ और सबको बताकर आज मैं उसे पत्नी-रूप में ग्रहण कर रहा हूँ। यह सत्य बतलाने पर भी समाज ने मुझे त्याग दिया है और मैं उनकी आँखों में पतित बन गया हूँ। अब समझे कि क्यों आश्रम इतना खाली-खाली है? अब अपकी जो मर्जी !'' ...

मैंने बीच में रोककर कहा – ''यह भंयकर सत्य कहने के कारण मेरी नजर में आप पहले के समान सन्त ही रहे और आपके प्रति मेरी श्रद्धा भी बढ़ गई। आप यदि छिपकर पाप में लिप्त रहते और मैं किसी प्रकार जान जाता, तो मैं बड़ा दुखी होता और तत्काल यह स्थान छोड़कर चला जाता। मगर आपने तो सच्चे सत्पुरुष का काम किया है, इसको व्याभिचार नहीं कहते हैं। आप केवल व्रतच्युत या आदर्शच्युत हुए हैं। उदासी (नानक-पन्थी) तथा बाकी संन्यासी-समाज ने भले ही आपका त्याग किया है, लेकिन हैं आप साधु ही – सद्-गृहस्थ हुए हैं, यही न? – आपने भगवान के विरुद्ध कोई गुनाह या दोष नहीं किया। व्रत-भंग करने पर समाज ने अपको दोषी ठहराया है और यदि समाज ऐसा न करे, तो सभी लोग प्रेम में पड़ते रहेंगे और ... (वे हँसने लगे), परन्तु घृणा क्यों करेंगे? मुझे तो घृणा करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। गुप्त पाप होने से बात दूसरी हो जाती।''

उन्होंने कहा – ''स्वामीजी, इस तरह किसी ने मुझसे बातें नहीं की। पहली बार आपके मुँह से सुन रहा हूँ, आज मेरे प्राण हल्के हुए। दुनिया में ऐसे भी लोग हैं, जो मुझे पहले जैसे ही सन्त समझते हैं। सच कहता हूँ स्वामीजी, सच कहता हूँ। (मुझे छूकर) इस दुर्बलता के सिवा मेरा जीवन पूर्ववत् साधु का जीवन ही है। केवल अर्थाभाव से कष्ट पा रहा हूँ। लोग मुझसे घृणा करते हैं, इस कारण मैं किसी के पास जाता नहीं, एक भगवान की दया पर निर्भर करके पड़ा हूँ। मेरी स्त्री ने एक गाय रखा है और दूध बेचकर थोड़ी-सी आय की व्यवस्था की है। मैं आज बड़ा खुश हूँ स्वामीजी – आपसे सच कहता हूँ – बहुत दिनों से चित्त में ऐसे सुख का अनुभव नहीं किया है।'' रात के समय वे अपनी स्त्री को लेकर आये। मेरे विषय में उनके साथ बात हुई है, यह उनके आचरण से ही समझ गया। स्त्री का मेरे साथ परिचय कराने के बाद संकुचित होकर बोले – ''स्वामीजी, यदि आपको आपत्ति नहीं हो, तो कल भिक्षा हमारे ही यहाँ ...।'' – ''हाँ हाँ, भिक्षा अवश्य करूँगा।'' यह कहने पर वे पैर की धूल लेने आ रहे थे। दोनों की आँखें गीली थीं।

एक सप्ताह ऋषीकेश रहने के बाद योजनानुसार मैं और सिद्धानन्दजी किसनपुर तथा मसूरी देखने गये। पूज्य कालीकृष्ण महाराज वहाँ पहले से ही थे। तीन रात वहाँ ठहरने के बाद सिद्धानन्दजी काशी और मैं पठानकोट की ओर रवाना हुए।

डलहौजी पहाड़

पठानकोट में एक महीना रहने के बाद, गर्मी पड़ने के कारण मैं डलहौजी होते हुए चम्बा गया। डलहौजी में आठ-दस दिन वहाँ के आर्यसमाज में था। पहले ही दिन एक समस्या उठ खड़ी हुई – (कराची के) एक प्रसिद्ध आर्यसमाजी वहाँ किसी सम्बन्धी के घर आये थे। वे वहाँ के समाजियों के साथ 'जात-पात-तोड़क-मण्डल' के उद्देश्य और कार्यक्रमों पर चर्चा करते-करते – रोटी-बेटी के प्रश्न पर आ गये। उनका मत था – ''जिसके साथ एक बार पंक्ति-भोजन हुआ है और जब समाज का ध्येय है सबको एक जाति – आर्य बनाना, तो कन्या का आदान-प्रदान क्यों नहीं होगा? होना ही चाहिए और इसीलिए वे अपनी कन्या का एक निम्नवर्णीय आर्य के साथ विवाह देंगे'' और अपने मित्र से बोले – ''तुम भी ऐसे ही अपनी कन्या दो।'' मित्र उस पर राजी नहीं हुए, केवल एक दिन सामाजिक भोजन में जाने के लिए राजी थे।

इस पर उन्होंने (कराचीवाले) इन पर आरोप लगाया और अन्य आर्य-समाजियों को भी बेईमान कहा। बोले – ''आप लोग जैसा कहते हैं, वैसा करते नहीं या करने के लिए तैयार नहीं हैं। इस विषय में मुसलमान अच्छे हैं, क्योंकि वे जात-पात नहीं मानते, उनमें सभी लोग समान हैं और इसीलिये कार्य रूप में भी – रोटी-बेटी के सम्बन्ध उनमें सब स्तर के लोगों के साथ होते हैं।'' इस पर किसी ने कटाक्षपूर्ण उक्ति की थी – ''तो फिर मुसलमान ही क्यों नहीं हो जाते?''

सुनकर उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि वे लोग 'जात-पात-तोड़क-मण्डल' के ध्येय के अनुसार कार्य नहीं करेंगे अथवा उन्हें नहीं करने देंगे, तो वे तत्काल मुसलमान बन जायेंगे। इसके बाद वे और भी अग्रसर होकर वहाँ के मौलवी के साथ बातें करके यह निश्चित कर आये कि कुछ दिनों के भीतर यदि ये लोग राजी नहीं होते और उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिये सार्वजनिक प्रतिज्ञा नहीं करते, तो वे सपरिवार इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लेंगे।

यह सुनकर कि एक हिन्दू संन्यासी आये हैं, वे मेरे पास आकर उपस्थित हुए। तब मैं वहाँ के हिन्दू-मन्दिर में बैठा था। समाज की चाभी जिसके पास थी, वे कहीं बाहर गये हुए थे। उनके न आने तक मैं वहीं था। इन सज्जन ने आते ही और कोई बात नहीं, बस वही प्रसंग छेड़ा और अपनी प्रतिज्ञा के बारे में बताया। बोले – ''आदमी बाहर और भीतर से साफ-सच्चा क्यों नहीं होगा? क्यों लोगों को एक बात

कहेंगे और भीतर दूसरी रखेंगे। एक समाज बनाया है, उसका ध्येय बनाया है, तो फिर उसी ध्येय के अनुसार कार्य करने में पीछे क्यों हटेंगे? इस मामले में मुसलमान-समाज काफी अच्छा है। वे लोग जात-पात नहीं मानते, तो सचमुच ही नहीं मानते और उनमें रोटी-बेटी का प्रश्न नहीं है। आर्य-समाज कहता है कि सभी मनुष्य एक हैं, लेकिन ये लोग इस बात का पालन नहीं कर सकते, पर वे लोग करते हैं। मैंने निश्चय किया है – यदि आर्य-समाज प्रकट रूप से अपने ध्येय के अनुसार कार्य न करे, या फिर वैसा करने की प्रतिज्ञा न ले, तो मैं मुसलमान हो जाऊँगा। वैसे मैं स्वयं यह बात मानने और इसे कार्य रूप में परिणत करके दिखाने के लिए सर्वदा तैयार हूँ – अभी तैयार हूँ। आप संन्यासी हैं – यह सुनकर आपके पास आया हूँ। आप इसकी मीमांसा कीजिये।''

मैंने देखा वे बड़े गर्म हो रहे हैं और यदि कोई उपाय न हुआ, तो अपने निश्चय को कार्य में अवश्य परिणत करेंगे। ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति के चले जाने से आर्यसमाज और हिन्दू समाज को काफी हानि होगी। आर्यसमाज के विषय में काफी इधर-उधर की बात करने के बाद मैं बोला – ''आप समाज का दोष दूर करना चाहते हैं, यही न ! समाज जो कहे, वैसा ही कार्य करे – यही चाहते हैं न !'' – ''हाँ।'' – ''तो ऐसा करने के लिए भीतर रहकर ही लड़ना होगा। भीतर न रहने से उनके सुधार की चेष्टा किस प्रकार करेंगे? क्या आप देखते नहीं कि जो एक बार बाहर चले गये हैं, वे कुछ भी नहीं कर सकते, केवल समाज को दुर्बल कर गये हैं और सुधार करने के अधिकार से स्वयं को वंचित कर लिया है। वे बाहर से चाहे जितना चिल्लायें, कोई सुनेगा नहीं। आप जो इन लोगों को हिला सके हैं और तभी तक हिला सकेंगे, जब तक कि आप इनके अन्दर हैं। यदि आप इनके अन्दर नहीं होते, तो क्या कोई आपकी बात सुनता ! आज शहर में इस बात की चर्चा हो रही है; परन्तु यदि आप समाज को त्याग दें, तो यह सब करना सम्भव नहीं हो सकेगा।

''जरा सोचकर देखिये – पिछले हजार वर्षों के दौरान असंख्य लोगों ने हिन्दू धर्म का त्याग किया, उन लोगों को वापस नहीं लिया गया, उनकी ओर मुड़कर देखा तक नहीं, उनके सारे आक्रमण व्यर्थ कर दिये, समाज के आचार-विधि में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। आज आप जितने मुसलमान देख रहे हैं, उनमें से नब्बे प्रतिशत पहले हिन्दू थे और उनकी संख्या बढ़ती जाने के कारण एक भीषण राजनैतिक समस्या पैदा हो गई है। कितने ग्रामों में, कितने जनपदों में हिन्दू निश्चिन्त होकर रह नहीं सकते। सर्वदा एक भय, एक आतंक के बीच निवास करते हैं। तो भी क्या आपने उनके आचरण में कोई परिवर्तन होते देखा है? हजार वर्ष पूर्व जो सामाजिक आचार-विचार थे, अब भी प्राय: वे ही यथावत् बने हुए हैं। जो कुछ उदारता का भाव या सुधार आप देखते हैं, वह हजारों में एक-आध उच्च शिक्षितों मात्र में ही है। बाकी जनता तो पहले के समान ही है। इसलिये आप जो धमकी दे रहे हैं, उसकी प्रतिक्रिया समाज में तभी तक होगी, जब तक आप समाज-शरीर के अंग हैं; और जैसे ही आप समाज का त्याग करेंगे, वैसे ही उन पर और कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। दो-चार दिन बाद लोग आपकी बात भूल जायेंगे। यदि आप सच्चा हित चाहते हैं, तो समाज त्याग करने की बात त्याग दीजिये और आप स्वयं जिसको सत्य तथा उचित समझते हैं, बिना किसी की परवाह किये वैसा ही आचरण करते रहिये। जात-पात आप मत मानिये। रोटी-बेटी में समानता का व्यवहार आप अपने घर में करिये और समाज को दिखाकर कहिये – इसके लिये यदि कोई आपसे सम्पर्क तोड़ना चाहे, तो तोड़ सकता है। दुनिया एक ओर और आप दूसरी ओर खड़े हो जाइये। मर्द का यही तो धर्म है, परन्तु आप जो करने जा रहे हैं, वह तो काफी-कुछ स्त्रियों की तरह है – 'तू यदि ऐसा-ऐसा नहीं करता, तो मैं किसी और के साथ चली जाऊँगी।' यही न ! (यह बात उनके दिल में लगी, चेहरा लाल हो गया और दृष्टि नीचे झुक गयी)। मैं जिस दृष्टि यह कह रहा हूँ, उस पर आप दो दिन विचार कीजिये, फिर आकर बताइये। मैं अभी कुछ दिन और यहीं तो हूँ।''

मैं आर्य-समाज में ही ठहरा था। तीसरे दिन वे आये – चेहरे पर हँसी तथा शान्त भाव फैला था और हाथ में पंजाबी मिठाइयाँ थीं। बोले – ''स्वामीजी, आपकी बातों पर विचार करके देखा और अपने समर्थकों के साथ भी उस पर चर्चा करके देखा। आपने जो कहा था, वही ठीक है। सुधार करना हो, तो अन्दर रहकर ही सुधार करना होगा और वही सम्भव भी है। समाज त्याग करने से सारे अधिकारों से वंचित होना पड़ेगा और जिस समाज को मैं इतना प्यार करता हूँ, जिसके लिये इतनी हानि उठाई है, जिसे बनाने के लिए काफी पैसा दिया है, उसी के बाहर जाकर उसका शत्रु बन जाना, नितान्त भूल होगी। इससे हानि को छोड़, लाभ कुछ नहीं होगा। अत: आपने जैसा कहा है, किसी की परवाह किये बिना वैसा ही आचरण किये जाऊँगा। खुद सच्चा रहूँगा।''

मैंने कहा – ''हाँ, स्वयं सच्चे रहकर धर्म का पालन करना सहज है। दूसरों से उसका जबरन कैसे पालन करवाया जा सकता है? इससे तो केवल कलह-विवाद तथा भेद की ही वृद्धि होगी और काम तो बिलकुल भी नहीं होगा। हृदय में प्रेम-प्रीति लेकर सैकड़ों बार कहा जा सकता है, दृढ़ भाव से कहा जा सकता है कि धर्म-विरुद्ध कार्य करना अनुचित है; या ध्येय से च्युत होना महापाप है। कहने और करने में मेल रहना उचित है। वही मानवता का और सत्पुरुषों का भी लक्षण है। स्वयं भला बना जा सकता है, पर किसी अन्य

को बलपूर्वक भला नहीं बनाया जा सकता। यदि किसी में भली प्रवृत्तियों को जगाया जा सके, तो वही यथेष्ट मानिये। उसके बाद समय अपने आप भीतर से कार्य करेगा। चैतन्य महाप्रभु कहते थे – "धर्म का स्वयं आचरण करके, उसी के द्वारा दूसरों को सिखाओ।" और स्वामी विवेकानन्द कहते थे – "समाज-सुधार या जो कुछ भी करना चाहते हो, वह कम-से-कम बाधाओं के मार्ग से करने की चेष्टा करो। ऐसा प्रयास करना उचित है, जिससे समाज के भीतर से ही भाव उदय हो। ऐसा होने से, कार्य अपने आप हो जायेगा। इससे थोड़ा विलम्ब हो सकता है, परन्तु कार्य अच्छा होगा।"

उन्होंने कहा – "अच्छा, इस असवर्ण-विवाह – रोटी-बेटी के व्यवहार के बारे में आपका अपना क्या मत है?"

मैंने कहा –"मेरा मत तो किसी काम का नहीं है, परन्तु जिन्होंने इस विषय पर विचार किया है और उनकी बातों से जैसा मैं समझ सका हूँ, वही आपको बताता हूँ।

"विवाह सभी जातियों का आपस में हो सकता है; खान-पान भी हो सकता है, क्योंकि सभी मानव हैं। परन्तु इसमें एक दोष है। वैसे सभी मनुष्य एक तो हैं, मगर सबका एक समान विकास नहीं हुआ है। विकास की दृष्टि से, Culture (संस्कृति) की दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य के बीच काफी भेद है। यह संस्कृति त्यागने की चीज नहीं है। हजारों वर्ष की उन्नत शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप शरीर-मन या विचारों का जो विकास हुआ है, वह अनुन्नत वर्गों में देखने को नहीं मिलता। उनके आपसी सम्मिश्रण से नस्ल खराब हो जायेगी। इस विषय में पशु तथा मनुष्य के बीच कोई अन्तर नहीं है, दोनों में प्राय: एक ही नियम लागू होता है, इसीलिए जाति-विचार होता है। जाति-विचार का अन्य कोई अर्थ नहीं है। उत्तम वंश के स्त्री-पुरुष के संयोग से जैसी सन्तानें होंगी, निकृष्ट वंश के दम्पति से सामान्यत: वैसी आशा नहीं की जा सकती। प्राकृतिक रूप से ही वैसा नहीं होगा। परिश्रम – खूब परिश्रम करके उन्हें संस्कृति दिया जाय, तो कहीं अच्छा हो सकता है। इसीलिए कुलीनता पर विचार किया जाता है। नियम यह है – उच्च-कुलीन (संस्कृति-सम्पन्न) देखकर ही कन्या दी और ली जाती है। सामान्यत: समान संस्कृति के लोगों के साथ व्यवहार रखना चाहिए; और सुलक्षणा सुशीला उत्तम कन्या मिले, तो नीचे के कुल से भी ली जा सकती है, परन्तु दी नहीं जा सकती। यह अति सुन्दर नियम है, बिल्कुल विज्ञान-सम्मत है। कुछ समझे-बूझे बिना ही एक योजना बना लेना और उसी को ध्येय बनाकर समाज में झगड़ा करना अनुचित है, मूर्खों का काम है। वैसे कोई उद्देश्य लेकर किसी समाज की सृष्टि करने पर, जो लोग उसके सदस्य बनेंगे, उनके लिये तो अपने वचन का पालन करना ही उचित है, मैं उनके विषय मैं नहीं कह रहा हूँ ... ।

"अब मान लीजिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य – इन तीन वर्ण के भारतवासियों में से किनके साथ निग्रो लोगों का मेल होगा? या वे लोग जो अब भी जंगल में नग्न अवस्था में पशु की भाँति रहते हैं अथवा नरभक्षी जनजातियों के साथ क्या किसी का मेल बैठेगा? मनुष्य तो वे भी हैं। उनके साथ आप उठ-बैठ सकते हैं, खाना-पीना कर सकते हैं, पर बेटी का आदान-प्रदान करने के लिए उनका शुद्धीकरण आवश्यक होगा, जो कि कम-से-कम लगातार सात पीढ़ी तक होने पर यदि कन्या आदान-प्रदान के उपयुक्त हुई हो, तब किया जा सकता है। यह तो केवल बाहर से विचार करके ही समझा जा सकता हैं। आध्यात्मिक शास्त्र के शुद्धि-अशुद्धि विचार कठिन है, वह साधारण मनुष्य के बुद्धिगम्य नहीं है और उसे आम जनता पर लागू नहीं किया जा सकता। इसीलिये इन सब बातों को लेकर झगड़ा करने से कोई लाभ नहीं होगा। जिन आचार्यो ने वैसा करने का प्रयास किया है, उन्होंने साम्प्रदायिक रूप से आचार-शुद्धि के लिये तथा अपने-अपने सम्प्रदाय को अधिक पवित्र दिखाने के लिये ही किया है। उन लोगों ने पूरे देश के राष्ट्रीय जीवन के प्रति ध्यान नहीं दिया और इसके फलस्वरूप वे (समाज में) काफी भेद पैदा कर गये हैं, अपना-अपना दल बना गये हैं। खैर, उसे छोड़िये।

"मूल बात यह है कि रक्त-सम्बन्ध स्थापित करने के पूर्व, किस स्तर के साथ वह करना उचित है और करने से कुल का कल्याण होगा, राष्ट्र का भला होगा – यह देखना उचित है। सामान्य रूप से कहा जाय, तो समान संस्कृति के लोगों के साथ रक्त का सम्बन्ध करना ठीक प्रतीत होता है।"

इसके बाद और भी बहुत-सी बातें हुई और अन्त में यह निश्चित हुआ कि उनके लिये अब वहाँ ज्यादा विलम्ब किये बिना कराची लौट जाना ही उचित होगा। वे इतनी गड़बड़ पैदा कर चुके थे कि अब सम्भव था कि मौलवी भी झंझट पैदा करे। इससे समाज की ही हानि होती। बाद में मुझे समाचार मिला कि वे बिना किसी को सूचित किये डलहौजी से प्रस्थान कर गये थे।

❖ **(क्रमशः)** ❖

मुम्बई में : तैयारी और प्रस्थान

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

पिछले लेखों में हमने देखा कि स्वामीजी, मुंशी जगमोहन के साथ खेतड़ी से १० मई को निकल कर जयपुर, आबूरोड तथा नडियाद होते हुए लगभग २० तारीख को मुम्बई पहुँचे। मुम्बई में वे लोग कहाँ ठहरे थे, इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। जहाज छूटने में अभी १०-१२ दिन बाकी था, अत: यह समय उन्होंने यात्रा की तैयारी, पूर्व-परिचितों से मिलने, धर्मचर्चा तथा ध्यान में बिताये। इस अवधि में उनके द्वारा लिखित ४ पत्र प्राप्त होते हैं, जिनसे उनकी उन दिनों की मन:स्थिति एवं गतिविधियों की कुछ जानकारी प्राप्त होती है –

२२ मई को उन्होंने दो पत्र लिखे, पहला खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह को और दूसरा जूनागढ़ राज्य के दीवान श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को। दोनों के हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हैं –

मुम्बई, २२ मई, १८९३

महामहिम,

खेतड़ी से प्रस्थान करने के बाद आपको बताने लायक कोई विशेष घटना नहीं हुई, बताने योग्य केवल इतना ही है कि रास्ते में मुझे हर तरह से आराम मिला, खरारी में यात्रा को विराम देने के बाद मैं नडियाद गया। हरिदास भाई पूर्ववत् ही मेरे प्रति अत्यन्त कृपालु रहे और हम दोनों ने आपके विषय में बहुत-सी चर्चा की – इतनी चर्चा की कि वे आपसे मिलने को अतीव उत्सुक हो उठे हैं और अगले जाड़ों की अपनी प्रस्तावित उत्तर भारत की यात्रा के समय वे आपको श्रद्धा ज्ञापित करने के इच्छुक हैं और मैं साहसपूर्वक यह कह सकता हूँ कि महाराज, आप भी इन अनुभव-सम्पन्न वृद्ध सज्जन से मिलकर अतीव प्रसन्न होंगे, जो (पिछले) पच्चीस वर्षों से काठियावाड़ के सलाहकार रहे हैं। वस्तुत: अत्यन्त पुरातनपन्थी राजनेताओं की प्राचीन परम्परा के वे ही एकमात्र अवशेष हैं। वे एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो एक विद्यमान व्यवस्था को पूरी तौर से संगठित करने ठीक-ठीक नियंत्रित करने में सक्षम हैं, परन्तु वे इससे एक भी कदम आगे बढ़नेवाले व्यक्ति नहीं हैं।

मुम्बई में मैं अपने बैरिस्टर मित्र रामदास से मिलने गया। वे एक भावुक सज्जन हैं और महाराज के चरित्र से इतने प्रभावित हैं कि वे मुझसे बोले कि यदि यह ग्रीष्म का मौसम नहीं होता, तो वे ऐसे राजा को देखने उड़कर चले जाते।

३१ तारीख को उनके पिताजी का शिकागो जाने का विचार है। यदि ऐसा हुआ तो हम दोनों साथ ही यात्रा करेंगे। आज मैं लोहे का संदूक आदि खरीदने जा रहा हूँ और मद्रास से आनेवाले धन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वैसे मैंने उन्हें जयपुर से तार भेज दिया था, तथापि उन्हें थोड़ा सन्देह था और वे लोग मेरे अगले सन्देश का इन्तजार कर रहे थे। मैंने उन्हें पुन: तार भेजा है और पत्र भी लिखा है।

वहाँ से आते समय मार्ग में हमें जयपुर के नोबल्स स्कूल के चारण हेडमास्टर श्री रामनाथ का संग मिला। वर्षों पूर्व जब मैंने खेतड़ी से पहली बार विदा ली थी, उस समय हम दोनों के बीच शाकाहारवाद पर एक बहस हुई थी। इस दौरान उन्हें कुछ अमेरिकी लेखकों के विचार मिल गये थे और वे उनके तर्कों को लेकर मेरे ऊपर पिल पड़े। उन्होंने बताया कि उनके लेखक ने बड़े सन्तोषजनक रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि दाँतों सहित मनुष्य का पाचन-तंत्र बिल्कुल ठीक ठीक गाय के ही समान है; अतएव प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण एक शाकाहारी जीव के रूप में ही किया है। वे एक बड़े ही भले तथा अच्छे सज्जन व्यक्ति हैं और मैं अमेरिकी विद्वान् में उनकी श्रद्धा को विचलित नहीं करना चाहता था, परन्तु एक बात मानो मेरी जिह्वा पर आ ही गयी थी। यदि हमारा पाचन-तंत्र ठीक ठीक गाय के ही समान है, तो फिर हमें भी घास खाने और उसे पचाने में समक्ष होना चाहिए। यदि ऐसा हो, तो निर्धन भारतवासी अकाल के समय (व्यर्थ ही) भूखों मरने की मूर्खता करते हैं, जबकि घास रूप उनका स्वाभाविक भोजन इतनी प्रचुरता से उपलब्ध है और आपके सेवक भी मूर्ख हैं, जो आपकी सेवा करते हैं; इतना कष्ट उठाकर दूसरों की सेवा करने की जगह वे निकट की पहाड़ी पर जाकर भरपेट घास प्राप्त कर सकते हैं! सचमुच ही यह एक महान अमेरिकी खोज है! मैं तो यह आशा करता हूँ कि

ऐसे मानव-गायों का पवित्र गोबर उस अद्भुत अमेरिकी लेखक तथा उसके भारतीय शिष्यों के लिए बड़ा उपयोगी होगा। अस्तु, गो-मानव सिद्धान्त पर इतना ही।

महामहिम को सूचित करने योग्य मुझे और कुछ नहीं दिखता, अत: यहीं समाप्त करने की अनुमति चाहूँगा।

समस्त कल्याण के प्रदाता आपको श्रेष्ठ आशीर्वाद प्रदान करें।

प्रभु में आपका, *विवेकानन्द*

मुम्बई, २२ मई, १८९३

श्रीमान् दीवानजी साहब, (हरिदास बिहारीदास देसाई)

कुछ दिन हुए बम्बई पहुँच गया और थोड़े ही दिनों में यहाँ से रवाना होऊँगा। आपके व्यापारी मित्र जिनको आपने मेरे ठहरने के लिए घर की व्यवस्था करने की सूचना दी थी, लिखते हैं कि उनके मकान में मेहमानों के कारण, जिनमें से कुछ बीमार भी हैं, बिलकुल जगह नहीं। उन्हें मुझे निवास न दे सकने का बहुत दु:ख है। खैर, किसी तरह मुझे एक अच्छी हवादार जगह मिल गयी है। *शायद अब तक आपको जूनागढ़ से सिंह के बारे में कुछ सूचना मिल गयी होगी।*

खेतड़ी-महाराजा के प्राइवेट सेक्रेटरी और मैं – दोनों एक साथ ही रहते हैं। उनके प्रेम और कृपाभाव के लिए आभार प्रदर्शन करने में मैं असमर्थ हूँ। वे एक ताजीमी सरदार हैं, जिनका राजा लोग उठकर स्वागत करते हैं। तो भी वे इतने सरल हैं कि उनका सेवाभाव देखकर मैं कभी कभी लज्जित हो जाता हूँ। *यदि आपको सिंह की कोई सूचना मिले, तो क्या आप इन सज्जन को उसके बारे में सूचित करेंगे?*

प्राय: देखने में आता है कि अच्छे-से-अच्छे सज्जनों पर कष्ट और कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं। इसका समाधान भले ही न हो सके, तो भी मुझे जीवन में ऐसा अनुभव हुआ है कि जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मूल रूप में भली न हो। प्रत्येक वस्तु के ऊपर की लहरें चाहे जैसी हों, परन्तु उसके गर्भ में शाश्वत प्रेम तथा कल्याण का भण्डार है। जब तक हम उस गर्भ तक नहीं पहुँचते, तभी तक हमें कष्ट मिलता है। एक बार उस शान्ति-मण्डल में प्रवेश करने के बाद चाहे जितनी भी आँधी और तूफान आयें, सदियों पुरानी चट्टान पर बना वह मकान टस-से-मस नहीं हो सकता।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि आप जैसे निस्वार्थी और सदाचारी सज्जन, जिनका जीवन सदैव दूसरों की भलाई में ही बीता है, उस दृढ़ धरातल पर पहुँच चुके हैं, जिसे गीता में भगवान 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं।

जीवन में आपको जो आघात लगे हैं, वे आपको उन परम पुरुष के निकट पहुँचने में सहायक हों, जो इहलोक तथा परलोक में एकमात्र प्रेमपात्र हैं। ऐसा होने पर आपको इस भाव का अनुभव होगा कि परमात्मा ही सर्वत्र तथा सर्वदा प्रत्येक वस्तु में विद्यमान हैं, प्रत्येक वस्तु उन्हीं में स्थित है और उन्हीं में विलीन होती है। ॐ शान्ति:।

आपका स्नेहांकित, *विवेकानन्द*

तीसरे पत्र के द्वारा स्वामीजी ने चेन्नै के डी. आर. बालाजी राव उनके पुत्रशोक के लिये उन्हें सांत्वना प्रदान की थी –

मुम्बई, २४ मई, १८९३

प्रिय बालाजी, व्यक्ति के सिर पर जो घोर-से-घोर विपत्ति आ सकती है, उसे सहते हुए प्राचीन यहूदी महात्मा ने सत्य ही कहा था – "माँ के गर्भ से मैं नग्न आया और नग्न ही लौट रहा हूँ; प्रभु ने सब कुछ दिया और प्रभु ने ही वापस ले लिया; धन्य है प्रभु का नाम!"* इन शब्दों में जीवन का रहस्य छिपा है। (जीवन की) ऊपरी सतह पर चाहे लहरें उमड़ आयें और आँधी के बवण्डर उठें, परन्तु उसके अन्तर की गहराई में अपरिमित शान्ति, अनन्त आनन्द और असीम एकाग्रता का स्तर है। कहा गया है – 'धन्य हैं वे, जो शोक मनाते हैं, क्योंकि वे शान्ति पायेंगे।' और क्यों पायेंगे? इसलिये कि जब कराल काल आता है और पिता की दीन पुकार और माता के विलाप की परवाह न करके हृदय को विदीर्ण कर देता है; जब शोक, ग्लानि और नैराश्य के असह्य बोझ से धरती का अवलम्ब भी विच्छिन्न-सा जान पड़ता है, जब मनो-क्षितिज पर असीम विपदा और घोर निराशा का अभेद्य परदा-सा पड़ा हुआ दिखाई देता है; तब अन्तश्चक्षु के पट खुल जाते हैं और सहसा ज्योति कौंध उठती है, स्वप्न का तिरोभाव होता है और अतीन्द्रिय दृष्टि से 'सत्' का महान् रहस्य प्रत्यक्ष दिखलायी देने लगता है। यह सत्य है कि उस बोझ से अधिकांश दुर्बल नौकाएँ डूब जाती हैं, पर जो वीर है, जिसमें बल और साहस है, ऐसा प्रतिभा-सम्पन्न मनुष्य उस समय उन अनन्त, अक्षर, परम आनन्दमय सत्ता या ब्रह्म का स्वयं साक्षात्कार करता है, जो ब्रह्म भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा और पूजा जाता है। जो बेड़ियाँ इस जीवात्मा को दु:खमय भवकूप में बाँधे हुए हैं, वे कुछ समय के लिये मानो टूट जाती हैं और वह निर्बन्ध आत्मा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ती है और धीरे-धीरे परमात्मा के सिंहासन तक पहुँच जाती है, 'जहाँ दुष्ट लोग सताना छोड़ देते हैं और थके-माँदे विश्राम पाते हैं।' भाई! दिन-रात यह विनती करना मत छोड़ो और दिन-रात यह रट लगाना मत छोड़ो – 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।'

'हमारा धर्म प्रश्न करना नहीं, अपितु कर्म करना और मर

---

* "Naked came I out of my mother's womb, and naked shall I return thither : the LORD gave, and the LORD hath taken away; blessed be the name of the LORD." (Bible, Old Testament, Book of Job, 1/21)

जाना है।' 'हे प्रभो, तुम्हारा नाम धन्य है! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। प्रभो, हम जानते हैं कि हमें तुम्हारी इच्छा स्वीकार करनी होगी; प्रभो, हम जानते हैं कि हम जगदम्बा के हाथों से ही दण्ड पा रहे हैं; और 'मन उसे ग्रहण करने को तैयार है, पर निर्बल शरीर को यह दण्ड असहनीय है।' हे प्रेममय पिता, जिस शान्तिमय समर्पण का तुम उपदेश देते हो, उसके विरुद्ध यह हृदय की वेदना सतत संघर्ष करती रहती है। हे प्रभो! तुमने अपने पूरे परिवार को अपनी आँखों के सामने नष्ट होते देखा और उन्हें बचाने को हाथ न उठाया – ऐसे प्रभो, तुम हमें बल दो। आओ नाथ, तुम हमें यह शिक्षा देनेवाले परम गुरु कि सिपाही का धर्म आज्ञापालन है, प्रश्न करना नहीं। आओ, हे पार्थसारथी, आओ, मुझे भी एक बार वह उपदेश दे जाओ, जो अर्जुन को दिया था कि तुम्हारे प्रति जीवन अर्पित करना ही मनुष्य-जीवन का सार और परम धर्म है, जिसमें मैं भी पूर्व काल की महान् आत्माओं के साथ दृढ़ और शान्त भाव से कह सकूँ – 'ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु'।

परमात्मा तुम्हें शान्ति प्रदान करें, यही मेरी सतत प्रार्थना है।

विवेकानन्द

चौथा पत्र उन्होंने बेलगाम की श्रीमती इन्दुमती मित्र के नाम लिखा –

मुम्बई, २४ मई, १८९३

माँ, तुम्हारा और प्रिय हरिपद बाबाजी का पत्र पाकर प्रसन्न हुआ। हर बर तुम्हें पत्र नहीं लिख सका, इसके लिये दु:ख न करना। मैं सदैव परमात्मा से तुम्हारी कल्याण-कामना करता हूँ। ३१ तारीख को मेरी अमेरिका-यात्रा निश्चित हो चुकी है। इसीलिए मैं अब बेलगाँव नहीं आ सकूँगा। ईश्वर ने चाहा तो अमेरिका और यूरोप से लौटने के बाद मैं तुमसे मिलूँगा। सदा श्रीकृष्ण के चरणों में आत्म-समर्पण करती रहना। सदा इस बात का ध्यान रखना कि हम प्रभु के हाथ के पुतले हैं। सदा पवित्र रहना। **मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र रहने की चेष्टा करती रहना और यथासाध्य दूसरों की भलाई करना।** याद रखना कि मनसा-वाचा-कर्मणा पति-सेवा ही स्त्री का मुख्य धर्म है। प्रतिदिन जब भी समय मिले, गीता-पाठ करती रहना। तुमने अपने को 'दासी' क्यों लिखा है? 'दास' और 'दासी' वैश्य या शूद्र लिखा करते हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय को 'देव' या 'देवी' लिखना चाहिए। और फिर यह जाति-भेद तो आजकल के ब्राह्मण महात्माओं का किया हुआ है। कौन किसका दास है? सब हरि के दास हैं। अत: प्रत्येक महिला को अपने पति का गोत्रनाम देना चाहिए, यह पुरानी वैदिक पद्धति है, यथा इन्दुमती 'मित्र' आदि। अधिक क्या लिखूँ; माँ, सर्वदा याद रखना कि मैं तुम लोगों के कल्याण के लिए सतत प्रार्थना कर रहा हूँ। अमेरिका जाकर बीच-बीच में पत्रों द्वारा मैं तुमको वहाँ की आश्चर्यजनक बातें लिखता रहूँगा। मैं इस समय बम्बई में हूँ और ३१ तारीख तक यहीं रहूँगा। खेतड़ी-नरेश के नीजी-सचिव मुझे यहाँ तक पहुँचाने आये हैं। अधिक क्या लिखूँ! इति।

आशीर्वादक, *सच्चिदानन्द*

मुम्बई से स्वामीजी ने अपने उपरोक्त दोनों गुरुभाइयों के नाम भी एक आवेगपूर्ण पत्र लिखा, जिसका उल्लेख करते हुए स्वामी ब्रह्मानन्द ने बताया था, "स्वामीजी ने अमेरिका जाने के पूर्व मुझे तथा हरिभाई को माउण्ट आबू में जो पत्र लिखा था उसकी ये बातें अब भी मेरे मन में कौंध रही हैं। हरिभाई भी प्राय: ही उनका प्रसंग उठाया करते थे। वे बातें इस प्रकार थीं, "**जगद्धिताय बहुजनसुखाय** – जगत् के हितार्थ तथा बहुसंख्य लोगों के सुखार्थ जो कुछ किया जाय, वही धर्म है और अपने लिए जो कुछ किया जाय, वह सब अधर्म है।' ओह! सोचो तो जरा, कितनी अद्भुत बात है। इस बात का क्या कोई मोल हो सकता है?"[१]

चेन्नै के भक्तों का आगमन

स्वामीजी के २२ मई के पत्र में हमने देखा कि स्वामीजी ने जयपुर तथा मुम्बई से भी आलासिंगा को टेलीग्राम तथा पत्र भेजकर सूचित किया था कि उनके चेन्नै से प्रस्थान के बाद जो भी धन एकत्र हुआ हो, उसे लेकर वे मुम्बई पहुँच जायँ। सम्भवत: २३ या २४ तारीख को आलासिंगा मुम्बई आ पहुँचे। साथ में उनके एक चचेरे भाई **एम.सी. कृष्णामचारी** भी थे। श्री कृष्णामचारी ने बाद में मुंशी जगमोहन लाल को भी एक पत्र लिखा था, जिसे हम आगे उद्धृत करेंगे।

चेन्नै के प्रसंग में हमने देखा कि स्वामीजी के अनुरागियों द्वारा कर्नल आल्काट से एक परिचय-पत्र प्राप्त करने का प्रयास उनके साथ एक विवाद में परिणत हो गया था, परन्तु स्वामीजी के लिये एक परिचय-पत्र उन लोगों ने अवश्य की थी। उनके मद्रासी शिष्य वरदा राव ने शिकागो के एक धनी व्यापारी अर्सकिन मेसन फेल्प्स (Erskine Mason Phelps) के नाम एक परिचय-पत्र की व्यवस्था कर दी थी। श्री फेल्प्स शिकागो में आयोजित होनेवाले विराट् कोलम्बियन मेले के ४५ निदेशकों में से एक थे।[२]

जी.जी. नरसिंहाचार्य का पत्र

स्वामीजी के एक अन्य शिष्य जी.जी. नरसिंहाचार्य उन दिनों मैसूर में थे। मुंशी जगमोहन लाल ने उन्हें एक पत्र लिखकर स्वामीजी के प्रस्थान की तिथि के बारे में सूचना दी थी। इसके उत्तर में श्री नरसिंहाचार्य ने जो उत्तर दिया, वह

१. ध्यान धर्म तथा साधना, नागपुर, सं. १९८०, पृ. ६९

२. Vivekananda in Chicago : New Findings, Asim Chaudhury, Advaita Ashrama, Ed. 2000, p. 149-152

बड़ा ही मार्मिक है और यह प्रदर्शित करता है कि चेन्नै के युवक किस हद तक स्वामीजी द्वारा सम्मोहित हो गये थे। मैसूर से लिये उक्त अंग्रेजी पत्र का अनुवाद इस प्रकार है –

२७ मई, १८९३

प्रिय बन्धु,

मुझे खेद है कि आपका टेलीग्राम मुझे काफी विलम्ब से मिला। वहाँ समय पर पहुँचने के लिये मैं धन की व्यवस्था करके प्रस्थान करने में असमर्थ हूँ। अपने पूज्य पिता (स्वामीजी) का दर्शन करने के लिये मैं वहाँ उपस्थित नहीं हो सकूँगा – यह विचार मुझे बिल्कुल भाराक्रान्त और मेरे मन को विचलित कर दिया है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि जब तक मैं आपसे फिर मिल न लूँ और अपने स्वामीजी के बारे में सुन न लूँ, तब तक – कुछ दिनों तक मुझे रातें अनिद्रा की हालत में बितानी पड़ेंगी। यद्यपि हम लोगों में से मैं ही सर्वाधिक अभाग्यशाली हूँ, तथापि एक चीज के लिये मैं आनन्दित हूँ (और वह यह कि) कम-से-कम आपको तो अपना प्रत्येक उपलब्ध क्षण उनके सान्निध्य में बिताने का सौभाग्य मिला है। मैं दिन और रात स्वामीजी के बारे में ही सोचता रहा। और उनके होठों से जो मूल्यवान विचार-कण निकले थे, उनमें से एक भी मेरी स्मृति से विलुप्त नहीं हुए हैं। उन्हें लिपिबद्ध करने में मैंने एक नोटबुक करीब-करीब भर डाला है। इन्हीं विचारों को पढ़ने तथा यहाँ के अपने मित्रों को समझाने में ही मेरा अधिकांश समय बीतता है। जब कभी मुझे थोड़ी-सी भी फुरसत मिलती है, तो ध्यान में बैठते ही भट्टाचार्य का घर तथा स्वामीजी का आश्वस्त करता हुआ और प्रेमपूर्ण मुखमण्डल मेरे स्मृतिपटल पर उभर आता है। कौन नहीं उन्हें पूरी तौर से अपने ही लिये रखना चाहेगा! इस प्रकार स्वार्थी होने से भला क्या लाभ, जबकि उनके सागर-समान गहरे तथा विस्तीर्ण हृदय के लिये सम्पूर्ण विश्व भी यथेष्ट नहीं है! वे निश्चित रूप से अपने मिशन में सफल होंगे। जिन ईश्वर ने उनके सभी संकटों के दौरान उनका साथ नहीं छोड़ा, वे सर्वदा उनके साथ रहेंगे। मैं बड़ी भावुक प्रकृति का हूँ। कितना भी लिखकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता। (पर) मैं नहीं जानता कि क्या लिखूँ।

भले ही यह असम्भव हो, लेकिन आप उनके विस्तीर्ण हृदय को यथासम्भव संकुचित करने का प्रयास करें, ताकि लौटते समय वे मद्रास में उतरने की सहमति दे दें। जो कुछ आप उनसे कहें और जो कुछ वे आपसे कहें, उसमें मुझे भी याद रखें। स्वामीजी से उनके इस बालक को आशीर्वाद देने का अनुरोध कीजिये, जिसका हृदय दृढ़तापूर्वक उनके चरणों से जुड़ा हुआ है। मैं अपनी वर्तमान परिस्थिति का वर्णन नहीं कर सकता। अश्रु बहाने के बाद ही मैं शान्त हो सकूँगा।

बेचारा वरदन् (वरदा राव) हमेशा मेरे पास आता है और स्वामीजी के बारे में बातें करता है। स्वामीजी को उसकी भी याद दिलाइये।

एक बार पुन: याद दिलाता हूँ कि स्वामीजी के विशाल हृदय को उनके इस दुखी आकुल बालक के अस्तित्व का स्मरण कराइये, जो यहाँ से उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदित कर रहा है।

आपका प्रिय भाई और

स्वामीजी का विश्वासी बालक

जी.जी. नरसिंहाचार्य[3]

अलविदा भारत

जैसा कि हमने देखा खेतड़ी के महाराजा ने जगमोहन लाल को स्वामीजी की यात्रा की सारी व्यवस्था करने का निर्देश देकर साथ भेजा था। अत: एक दिन वे स्वामीजी को लेकर बाजार गये और उनकी आवश्यकता की सारी चीजें खरीदने लगे। जब स्वामीजी ने देखा कि उनके लिए महँगे रेशमी लबादे तथा पगड़ी की व्यवस्था हो रही है, तो इस पर विरोध प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि एक साधारण-सा वस्त्र ही यथेष्ट होगा। परन्तु मुंशीजी भला कहाँ सुननेवाले थे! वे चाहते थे कि महाराजा के गुरु भी महाराजा के समान ही यात्रा करें। अपने शिष्यों के स्नेह एवं सद्भावपूर्ण हठ के सामने स्वामीजी की एक न चली और उन्हें यथेष्ट धनराशि भी दी गई और जापान जानेवाले पी. एण्ड ओ. कम्पनी के पेनिन्सुलर जहाज पर उनके लिए प्रथम श्रेणी के एक स्थान का आरक्षण करा दिया गया।

भगिनी देवमाता ने श्री आलासिंगा पेरुमल से सुनकर इस काल की कुछ बातें अपनी पुस्तक 'Ramakrishna and his disciples' (रामकृष्ण और उनके शिष्य) में संकलित की हैं। आलासिंगा ने बताया था – "मुम्बई में हम लोग उनके साथ थे। हमने कहा, 'स्वामीजी, आप अमेरिका जा रहे हैं, वहाँ समय का बड़ा महत्त्व है; अत: आपके पास एक घड़ी होनी चाहिए।' उन्होंने तुरन्त कहा, 'ठीक है, एक खरीद दो।' हमने कहा, आपके पास कुछ परिचय-कार्ड होने चाहिए।' वे बोले, 'ठीक है, सौ छपवा लो।' उन दिनों वे सच्चिदानन्द के नाम से सुपरिचित थे, परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, 'कार्डों पर क्या नाम डालूँ?' तो उन्होंने कहा, 'स्वामी विवेकानन्द'।"

३१ मई के दिन स्वामीजी को जहाज में बैठाने मुंशी जगमोहन लाल, आलासिंगा पेरुमल तथा मुम्बई के ही कुछ अन्य लोग बन्दरगाह पर गये थे। जहाज पर चढ़ने के बाद स्वामीजी की अवस्था का किंचित् विवरण आलासिंगा से ही सुनकर श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने अपनी बँगला पुस्तक में इन शब्दों में लिखा है – "स्वामीजी अब गैरिकवसनधारी तथा

३. खेतड़ी पेपर्स, १९९९

नग्नपद (परिव्राजक) न थे; उन्होंने जूते, ट्राउजर और एक लम्बा कोट पहन रखा था। अब वे एक अलग ही व्यक्ति दीख रहे थे। उनके मुख-मण्डल से एक अलग ही भाव झलक रहा था। स्वामीजी अनमने-से जहाज के डेक पर टहल रहे थे; और उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष कभी भारतवर्ष, तो कभी अमेरिका का चित्र झलक उठता था। कभी वे धीरे-धीरे टहलते, तो कभी स्थिर खड़े हो जाते, ... परन्तु वे किसी से बातें नहीं कर रहे थे। मुंशीजी जगमोहन लाल ने पहले उन्हें संन्यासी के ही वेश में देखा था, परन्तु अब वे स्वामीजी को एक अलग ही वेश में देख रहे थे। अंग्रेजों के साथ मेलजोल रखने के कारण मुंशीजी के मन में अपने बारे में ऐसी धारणा थी कि वे ट्राउजर, बूट आदि पहनने का तरीका भलीभाँति जानते हैं; इस कारण वे स्वामीजी को सावधान करते हुए उन्हें ट्राउजर पहनने की विधि समझाने लगे। स्वामीजी के ट्राउजर का निचला हिस्सा एड़ी के पास जूतों से लग रहा था। मुंशीजी की धारणा थी कि ट्राउजर जूतों से दो-तीन अँगुल ऊपर होना चाहिए, नहीं तो अन्दर के मोजे नहीं दीख पड़ते। अत: वे स्वामीजी को सावधान करने लगे, 'स्वामीजी, ट्राउजर एड़ी से लग रहा है, थोड़ा ऊँचा करके पहनिए।' परन्तु स्वामीजी अपने भाव में तन्मय (डेक पर) चहलकदमी करते रहे, इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं गया। मुंशीजी के बारम्बार कहने पर उनके कानों में यह बात पड़ी और तब उन्हें थोड़ा होश आया। स्वामीजी ने पहले पाँवों का निरीक्षण किया और फिर तीक्ष्ण दृष्टि से जगमोहन लाल की ओर देखते हुए बोले, 'मैं बचपन से ही ऐसी पोषाक पहनने का अभ्यस्त हूँ, मुझे इस विषय में ध्यान दिलाने की जरूरत नहीं'।''

इसके अतिरिक्त जहाज पर हुई एक अन्य घटना का भी विवरण मिलता है। मुम्बई के एक बैरिस्टर श्री श्रीनिवास अयंगार सेटलुर भी स्वामीजी को विदा करने जहाज पर गये थे। २४ अगस्त १९०२ ई. को कोल्हापुर में प्रदत्त एक व्याख्यान में श्री सेटलुर ने बताया था – ''जहाज पर चढ़ते समय स्वामीजी के नवीन शिष्यों में से एक ने पूछा, 'महाराज, आप परदेश में हिन्दू धर्म पर बोलने जा रहे हैं, तो साथ में कुछ ग्रन्थ आदि नहीं ले जा रहे हैं क्या? और नहीं तो यही लेते जाइए।' ऐसा कहकर उसने अपनी जेब से श्री मध्वाचार्य की 'सर्व-दर्शन-संग्रह' नामक ग्रन्थ की एक प्रति निकाली। इस पर स्वामीजी उक्त ग्रन्थ के अनेक अंश एक-एककर अपनी स्मृति से ही बताने लगे। स्वामीजी की बुद्धि तीव्र तथा स्मरण-शक्ति अच्छी थी। ... उक्त ग्रन्थ के विषय में ऐसा होने के बाद उस शिष्य ने फिर कोई पुस्तक साथ ले जाने की बात नहीं उठाई।''

जहाज छूटने का समय हो जाने तक स्वामीजी को छोड़ने आये अनुरागी शिष्य तथा मित्रगण उनके साथ ही रहकर उनसे वार्तालाप करते रहे। जहाज छूटने की सूचना देते हुए जब उसका भोंपू बजा, तो सबके हृदय स्वामीजी से दीर्घकाल के लिए बिछुड़ने की कल्पना से व्यथित हो उठे, नेत्र गीले हो उठे। सबने हार्दिक श्रद्धा व प्रीति के साथ उन्हें प्रणाम किया और उनकी चरणधूलि सिर पर धारणकर नीचे उतर आये। जहाज मुम्बई से चल पड़ा।

स्वामीजी की उस समय की मन:स्थिति का वर्णन करते हुए स्वामी निखिलानन्द अपनी 'विवेकानन्द : एक जीवनी' ग्रन्थ में लिखते हैं – ''आइए, अब हम कल्पना चक्षुओं से देखें कि किस प्रकार स्वामीजी डेक पर खड़े, रेलिंग का सहारा लिए अपनी मातृभूमि की तेजी से अदृश्य हो रही दृश्यावली को निहार रहे हैं। उस समय कितनी ही कल्पनाएँ उनके मानस-पटल से होकर गुजरी होंगी; उन्हें श्रीरामकृष्ण, माँ-सारदा और वराहनगर मठ में रहनेवाले तथा वनों-पर्वतों में तपस्यारत अपने गुरुभाइयों की याद आई होगी। उन्तीस वर्षों की आयुवाला यह युवक अपने साथ कितनी ही स्मृतियों का बोझ लिए भारतभूमि से विदा ले रहा था। अपने महान् पूर्वजों की विरासत, गुरुदेव का आशीर्वाद, हिन्दू शास्त्रों का ज्ञान, पश्चिम का ज्ञान-विज्ञान, अपनी स्वयं की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, भारतवर्ष का अतीव गौरव, वर्तमान दुरवस्था तथा भावी महिमा का आभास; उष्ण-कटिबन्धीय तेज धूप के बीच खेतों में श्रमरत करोड़ों भारतवासियों की आशा-आकांक्षाएँ, पुराणों की भक्तिपूरित कथाएँ, बौद्ध-दर्शन की असीम बुलंदियाँ, वेदान्त का इन्द्रियातीत सत्य, भारतीय दर्शन की सूक्ष्मता, सन्त-कवियों के प्राणस्पर्शी भजन, अजन्ता-एलोरा के प्रस्तर-शिल्प तथा मूर्तिकला, राजपूत एवं मराठा योद्धाओं की वीरगाथाएँ, दक्षिण के आलवार भक्तों के स्तोत्र, उत्तुंग हिमालय की तुषारमण्डित गिरिशृंखलाएँ, गंगा की कलकल ध्वनि – इन सबने तथा और भी अनेक विचारों ने मिलकर स्वामीजी के मानस-पटल पर भारतमाता का कल्पना चित्र आँका होगा; उस भारतभूमि को जो अपने आप में ही एक विश्व है, जिसका इतिहास तथा समाज उस 'बहुत्व में एकत्व' के दार्शनिक सिद्धान्त का जीवन्त निदर्शन है; और भारतमाता भी विश्व-धर्ममहासभा में अपना प्रतिनिधित्व करने को क्या विवेकानन्द से भी योग्य किसी पुत्र को भेज सकती थीं?''

इस प्रकार स्वामीजी भारतभूमि से विदा हुए। उनके परिव्राजक जीवन की यहीं समाप्ति हुई। अपने भारत-भ्रमण के दौरान उन्होंने बहुत कुछ देखा, सीखा और अनुभव बटोरे, जो युगनायक धर्माचार्य के रूप में आरम्भ हो रहे भावी जीवन में अतीव मूल्यवान सिद्ध हुए।[४]

❖ (क्रमश:) ❖

४. स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र भ्रमण, नागपुर, पृ. १४७-१५०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(७०) परनिन्दा विषकुम्भ समाना

प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात के पास एक व्यक्ति आया और उनसे बोला – "एक आदमी ने मुझे आपके पड़ोसी के बारे में जो बताया, उसे मैं आपको सुनाना चाहता हूँ।" सुकरात ने कहा – "आपने जो भी सुना है, उसे बताने से पहले क्या आप मेरे तीन प्रश्नों का उत्तर देंगे?"

"अवश्य दूँगा" – उस व्यक्ति ने जवाब दिया।

सुकरात ने पूछा, "आपने जो सुना है क्या वह सही है?

"नहीं, सुना भर है" – उसने कहा।

"क्या आप उसके बारे में अच्छी बातें बताने जा रहे हैं?

"नहीं" – उत्तर मिला।

"क्या उस बात का मुझसे ताल्लुक है?" – तीसरा प्रश्न था। इसका भी नकारात्मक उत्तर मिला।

तब सुकरात ने कहा, "जब आप उस कथन की सच्चाई में विश्वास नहीं करते, वह बात अच्छी नहीं है और उसका मेरे लिये कोई उपयोग नहीं हैं, तब आपका उसे मुझे बताने का उद्देश्य क्या है? क्या आप मेरे और अपने समय का अपव्यय नहीं कर रहे हैं? ऊपरी बातों को देखकर या किसी के बारे में कुछ भी सुनकर उसकी बावत भली-बुरी राय नहीं बनानी चाहिये। पानी के ऊपर का तिनका तैरता दिखाई देता है, जिसका कोई मूल्य नहीं है, जबकि असली मोती जो तल में छिपा रहता है, जो दिखाई नहीं देता। इसलिये मनुष्य को सृजनात्मक बातों पर ध्यान देना चाहिये, फालतू व अनुपयोगी बातों पर ध्यान देना किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है।"

(७१) साधु-वचन अमृत की धारा

एक बार राजा भोज के दरबार में चर्चा छिड़ी कि स्वर्ग में अमृत के होने के बारे में तो सुना है, मगर क्या वह इस पृथ्वी पर भी उपलब्ध है?"

एक विद्वान् बोले, "चन्द्रमा में अमृत होता है और वह इस पृथ्वी पर उसकी वृष्टि करता है। इसी कारण तो फल, फूल और औषधियाँ देनेवाले वृक्ष फलते-फूलते हैं।"

"बिल्कुल गलत" – दूसरे ने कहा, "अगर चन्द्रमा में अमृत होता, तो उस पर दाग कैसे होता और पूर्णिमा के बाद उसका क्षय कैसा होता?" तीसरे ने कहा, "अमृत न तो स्वर्ग में है और न चन्द्रमा में, बल्कि वह तो नागमणि में होता है, जिसे पानेवाले की मृत्यु नहीं होती। चौथे ने उसका खण्डन करते हुये कहा, "अगर नागमणि में अमृत होता, तो नाग की मृत्यु कैसे होती?" इस तरह अलग-अलग व्यक्तियों ने अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किये।

राजा भोज ने जब कालिदास की राय पूछी, तो वे बोले, "अमृत चन्द्रमा, नागमणि आदि किसी में भी नहीं होता। अमृत वस्तुत: समुद्र-मन्थन के समय समुद्र से निकला था और देवताओं ने उसका पान किया था। इसी कारण वे अमर रहे। इस पृथ्वी पर यदि किसी को अमृत पाना है, तो वह सन्त-महात्माओं के सत्संग से उसे प्राप्त कर सकता है। सन्तों का हृदय अमृत से परिपूर्ण होता है, परमात्मा के चिन्तन में सतत लगे रहने से उनकी वाणी से वह नि:सृत होता रहता है। स्वर्गीय अमृत क्षोभ के कारण उत्पन्न हुआ था, किन्तु सन्तों के पास का अमृत विनयपूर्ण मधुरवाणी के कारण उत्पन्न होता है।"

(७२) परहित हेतु सन्त की काया

आश्रम में सहसा आग लगी और घासफूस की कुटियाँ जलने लगीं। शिष्यगण हौज के पानी को बाल्टियों में भरकर आग बुझाने में जुट गये। मगर हौज में पानी कम था और बाल्टियों में उसे पूरा नहीं भरा जा सकता था। इससे आग पर जल्दी काबू पाना सम्भव न था। आग के आगे फैलने का भय था। समीप ही एक कुआँ था, लेकिन रहट में लगाये जानेवाले बैल मुखिया की बैलगाड़ी में जुतकर शहर गये हुए थे। इतने में एक शिष्य ने स्वयं को ही रहट में बाँध लिया। अब लोगों को पानी ले जाने में दिक्कत न हुई। गुरुदेव हैरान थे कि बैलों के न होते हुये भी रहट चल कैसे रहा है! जब शिष्यों ने बताया कि एक शिष्य ने स्वयं को बैल की जगह बाँध लिया है, तो यह सुनकर वे चकित रह गये। आग पर शीघ्र ही काबू पा लेने के बाद गुरु ने शिष्य की पीठ थपथपाई और शिष्यों से कहा, "हमारे शरीर की सार्थकता दूसरों का हित करने में है। परहित की यह भावना प्रकृति में सर्वत्र दीख पड़ती है। पशु-पक्षी, सरिता, सूर्य, चन्द्र, वायु, वृक्ष, आदि सब किसी-न-किसी रूप से परोपकार में लगे रहते हैं। हमें भी उनका अनुकरण-अनुसरण करते हुए अपने प्राणों की परवाह न करके उसे दूसरों के हित में झोंक देना चाहिये।"

यही शिष्य बाद में 'अखण्डानन्द' नाम से प्रसिद्ध हुआ।
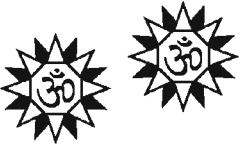
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
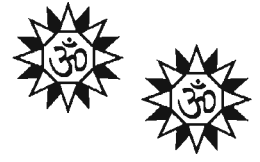
ए. श्रीनिवास पै

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

वर्ष १८९३ ई. में मैं चेन्नै के प्रेसीडेंसी कॉलेज में एक छात्र के रूप में अध्ययन कर रहा था, तभी मुझे स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। शिकागो में आयोजित हो रहे धर्म-महासभा में भाग के लिये उनके प्रस्थान करने के कुछ काल पूर्व यह घटना हुई थी। उन दिनों वे प्रसिद्ध नहीं हुए थे, परन्तु उनका अनुपम व्यक्तित्व बहुत-से लोगों को आकृष्ट किया करता था और उनके अनौपचारिक चर्चाओं में उपस्थित होनेवालों में काफी हिस्सा छात्रों का होता था। मुझे याद नहीं आता है कि उन दिनों मैंने इन बैठकों में तत्कालीन चेन्नै के हिन्दू समाज के किसी नेता को देखा था या नहीं, परन्तु उनमें छात्र थे, शिक्षक थे, द्वितीय श्रेणी के कर्मचारी थे और वकील थे। १८९७ ई. में विश्वव्यापी कीर्ति के साथ स्वामीजी के अमेरिका से लौटने के बाद सैकड़ों की संख्या में नेतागण तथा उच्च श्रेणी के अधिकारी उनकी कक्षाएँ तथा व्याख्यान सुनने को एकत्र होने लगे।

अपने १८९३ ई. के आगमन के समय वे मेरीना-समुद्र-तट के दक्षिणी छोर से थोड़ी ही दूरी पर स्थित श्री भट्टाचार्य (एक बंगाली सज्जन, जो उन दिनों चेन्नै के डिप्टी एकाउंटेंट जनरल थे) के घर ठहरे हुए थे। मैं अपने कुछ सहपाठियों के साथ स्वामीजी की बातें सुनने प्रतिदिन शाम को इस मकान में जाया करता था। वहाँ हम लोग परम्परागत ढंग से फर्श पर बिछी दरी के ऊपर स्वामीजी के काफी पास बैठा करते। उनकी चर्चाओं का दायरा भाँति-भाँति के अनेक विषयों तक फैला रहता और उनकी बातें बड़ी आनन्ददायी लगती थीं।

आज की तुलना में, तत्कालीन चेन्नै के अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त हिन्दुओं के बीच प्राचीन हिन्दू दर्शन तथा सिद्धान्तों का ज्ञान काफी कम लोकप्रिय था और उन दिनों इस विषय पर लोकप्रिय ग्रन्थ भी अति अल्प संख्या में ही उपलब्ध थे। उन दिनों हमारे महान् देवता थे – मिल, हर्बट स्पेंसर, हक्स्ले, लेज्ली स्टीफेन तथा हैकेल। हम लोग उन्हीं के शब्दों को दर्शन-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र तथा समाज-विज्ञान का अन्तिम निष्कर्ष मानते थे। और इस कारण स्वामीजी की युक्तिपूर्ण तथा जीवन्त व्याख्याएँ हमारे लिये आश्चर्य के रूप में आयीं। तथापि उनकी व्याख्याओं का सही मूल्यांकन करने के लिये हमारे के पास उपयुक्त पृष्ठभूमि का अभाव था। और हममें से कुछ छात्रों का उपर्युक्त यूरोपीय लेखकों के पक्ष में जो पूर्वाग्रह था, उस पर विजय पाना अत्यन्त कठिन था।

एक दिन स्वामीजी ने हमें समझाया कि कैसे विकासवाद का आधुनिक सिद्धान्त पहले ही हमारे कपिल मुनि द्वारा वर्णित हुआ है। एक अन्य दिन वे सगुण तथा निर्गुण ईश्वर के बारे में बोलते समय उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि किस प्रकार एक अज्ञेयवादी या नास्तिक की धारणा भी वस्तुत: नेतिवाचक नहीं है, क्योंकि उन लोगों को भी अविच्छिन्नता में विश्वास करना पड़ा है – एक ऐसे अविच्छिन्नता के तत्त्व में, जो सम्पूर्ण अनन्त में व्याप्त है। उन्होंने बताया कि कट्टर ईसाइयों की धारणा अयुक्तिसंगत तथा दोषपूर्ण है। बिना किसी कारण के सहसा आत्मा का उत्पन्न होना और उसका चिर काल के लिये नरक जाना या मुक्त होना – मानो ऐसा ही है जैसे कि एक ही छोरवाली छड़ी।

हल्के-फुल्के विषयों पर भी बहुत-सी बातें होती थीं। अपने कॉलेज के दिनों के बारे में वे हमें बताते कि किस प्रकार वे तथा उनके सहपाठी अपने कुछ प्राध्यापकों के साथ विनोद किया करते थे, किस प्रकार एक बार उन लोगों ने कक्षा की छुट्टी करवायी और बाहर जाकर धूम्रपान किया था।

वे हमें जिन अद्भुत लोगों की कहानियाँ सुनाया करते थे, वे मुझे स्पष्ट रूप से याद हैं। उनमें से एक उस अन्धे व्यक्ति के बारे में थी, जिसकी स्मरण-शक्ति तथा सुनने की क्षमता अद्भुत रूप से तीक्ष्ण थीं। जब स्वामीजी काफी कम आयु के बालक थे, तभी इस अन्धे व्यक्ति ने उनकी बातें तथा गीत सुना था। अनेक वर्षों बाद वह उस मकान में आया, जहाँ स्वामीजी ठहरे हुए थे। स्वामीजी को गाते सुनकर उसने तत्काल उनका कण्ठ-स्वर पहचान लिया और पूछा कि क्या वे वही बालक नहीं हैं, जिसका गाना उसने अमुक वर्ष तथा अमुक स्थान में सुना था। यह अन्धा व्यक्ति सड़क पर हाथों से तालियाँ बजाते हुए चलता और उसकी प्रतिध्वनि सुनकर कहता – "मेरी दाहिनी ओर खाली स्थान है और मेरी बायीं ओर एक विशाल भवन है" आदि आदि।

दूसरी कहानी एक जादूगर के बारे में थी। जहाँ तक मुझे स्मरण है, वह एक मुसलमान था। उसे कुछ अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो गयी थीं। एक अंग्रेज उसकी शक्तियों की परीक्षा करना चाहता था। एक दिन शाम को दोनों उस अंग्रेज

के खुले घोड़ेगाड़ी में कोलकाता की सड़कों पर निकले। गाड़ी में जाते समय जादूगर ने अंग्रेज से कहा – "आप मुझसे कोई भी चीज माँगिये और मैं उसे आपके सामने हाजिर कर दूँगा।" अंग्रेज ने क्षण भर सोचकर कहा – "ठीक है, मुझे एक बोतल शैम्पेन ला दो," क्योंकि उसे भलीभाँति मालूम था कि गाड़ी में या आसपास कहीं भी वह उपलब्ध नहीं है। जादूगर ने अपना हाथ आगे बढ़ाया, हवा में कोई चीज पकड़ी और शैम्पेन की एक बोतल ला दी। इसके बाद जादूगर ने "अब देखो," – कहकर सड़क की दाहिनी ओर की दुकानों की ओर हाथ हिलाकर इशारा किया और उस ओर की सारी बत्तियाँ बुझ गयीं, जबकि दूसरी ओर की सारी बत्तियाँ यथावत् जलती रहीं। जब तक कि सड़क तथा दुकानों के लोग अपने आश्चर्य से उभर पाते, उसके पहले ही उसने फिर अपना हाथ हिलाया और दाहिनी ओर की दुकानों की सारी बत्तियाँ फिर जल उठीं।

मुझे एक अन्य कहानी भी याद आ रही है। एक बार जब भारत में अंग्रेजों के देशी लोगों के प्रति अभद्र और कभी-कभी अपमानजनक व्यवहार के विषय में चर्चा चल रही थी, उसी समय उन्होंने हमें इसे बताया था। जैसा कि स्वाभाविक था, हर स्वाभिमानी भारतीय के समान ही वे भी इस पर बड़ी भावुकता के साथ बोले। एक बार सम्भवत: कोलकाता के ही एक (अंग्रेज) सालीसीटर ने एक भारतीय बैरिस्टर के प्रति अभद्र तथा अपमानजनक व्यवहार किया। इस पर वहाँ के प्रमुख वकीलों तथा मुवक्किलों ने एक सभा करके प्रस्ताव पारित किया कि उस सालीसीटर का बहिष्कार किया जायेगा। और स्वामीजी ने अपने अँगूठे से होठों की ओर इशारा करते हुए कहा – "और इसके फलस्वरूप अगले दिन से उस सालीसीटर को अपना अँगूठा चूसना पड़ा।"

मेसर्स जी.ए. नटेशन एंड कंपनी द्वारा प्रकाशित 'Swami Vivekananda's Speeches and Writings' (स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान तथा लेख) पुस्तक में पगड़ी-विहीन स्वामीजी का जो चित्र छपा है, उससे उनके व्यक्तित्व की अच्छी धारणा हो जाता है, परन्तु कोई भी चित्र या वर्णन उनकी आँखों की शक्ति की सही धारणा नहीं करा सकता। वे अद्भुत थे। कॉलरिज की प्रसिद्ध कविता 'Ancient Mariner' (प्राचीन नाविक) के समान वे "अपनी आँखों से पकड़ लेते थे।" उनकी वाणी में भी एक अवर्णनीय आकर्षण था। प्रारम्भ में श्रीमती एनी बेसेंट की आवाज में जैसी माधुर्य तथा खनक थी, स्वामीजी की वैसी नहीं, बल्कि नार्टन के समान अधिक मृदु तथा कर्णप्रिय थी, जो व्यक्ति को मुग्ध करके पकड़े रहती थी। वे बड़ा सुन्दर गा भी सकते थे। एक दिन शाम को जब हम लोग बैठकर उनकी बातें सुन रहे थे, तभी एक सुन्दर बच्ची, श्री भट्टाचार्य की पुत्री, ठुमकते हुए उस कमरे में आयी। स्वामीजी ने उसे गोद में उठा लिया और एक पंजाबी भजन गाने लगे। उन्होंने हमें बताया कि वह भजन गुरु नानक द्वारा रचित है और उसकी रचना के इतिहास से भी अवगत कराया। एक दिन संध्या-आरती के समय नानक मन्दिर में जा रहे थे। पर ब्राह्मण पुजारी ने उन्हें मन्दिर में प्रवेश करने से रोक दिया। अत: वे वहीं एक किनारे बैठकर यह भजन गाने लगे। इसमें उन्होंने आकाश को चाँदी की थाल, तारों को उसमें प्रज्वलित छोटे-छोटे आरती के दीप या निराजन और संध्या की सुगन्धित वायु धूप कहा है।*

---

* गुरु नानकदेव के जीवन की यह घटना जगन्नाथ-पुरी में हुई थी। असम, कछार, पूर्वी बंगाल आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए चटगाँव से समुद्र-यात्रा करके वे पुरी पहुँचे थे। वहाँ उनके भजन-संगीत से मुग्ध होकर पुरोहितों ने उन्हें जगन्नाथजी की संध्या-आरती देखने का आमंत्रण दिया। प्रभु की भव्य आरती देखते हुए, वे खिसककर न जाने कब अनन्त आकाश के विराट् चँदोवे के नीचे जा बैठे और भाव में तल्लीन हो गये। आरती के बाद पण्डों ने उन्हें ढूँढ़ा और उलाहना देने लगे। इस पर नानकदेव बोले – "मैं तो यहीं पर प्रभु की आरती देख रहा था।" बात किसी की समझ में नहीं आयी। तब उन्होंने अपने शिष्य मरदाना के एकतारे की संगत में विराट् पुरुष की यह आरती गाना आरम्भ किया। उनकी यह रचना 'श्रीगुरुग्रन्थ साहेब' (४/७/९) में राग धनाश्री में निबद्ध बताया गया है। रचना इस प्रकार है –

गगन मै थालु, रवि चन्दु दीपक बने, तारिका मंडल जनक मोती। धूपु मलआनलो, पवणु चवरो करे, सगल बनराइ फूलंत जोती।। कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती, अनहता, सबद बाजन्त भेरी।।१।। रहाउ।। – हे प्रभो, तुम्हारी विराट् आरती के लिये तारा-मण्डल-रूपी मोतियों से जड़े हुए गगन रूपी थाल में सूर्य तथा चन्द्र-रूपी दीपक जल रहे हैं। मलय की वायु धूप की सुगन्धि है, पवन चँवर डुला रहा है। हे ज्योति-स्वरूप, सम्पूर्ण वन-प्रान्तर ही तुम्हारी आरती के पुष्प हैं। हे भव-खण्डन करनेवाले नाथ, यह तुम्हारी कैसी सुन्दर आरती हो रही है! सब जीवों के भीतर बज रहा अनाहत नाद ही मन्दिर की भेरी है।

सहस तव नैन, नन नैन हहि तोहि कउ, सहस मूरति, नना एक तोही। सहस पद विमल, नन एक पद, गंध बिनु, सहस तव गंध इव चलत मोही।।२।। – तुम नेत्रहीन हो, पर तुम्हारे हजारों नेत्र हैं। तुम निराकार हो, पर तुम्हारी हजारों मूर्तियाँ हैं; चरणहीन हो, पर तुम्हारे हजारों पवित्र चरण हैं। तुम नासिकारहित हो, पर हजारों नासिकाओं से गन्ध लेते हो। मैं तुम्हारी इस लीला को देखकर मोहित हूँ।

सभ महि जोति जोति है सोइ। तिस दै चानणि सभ महि चानणु होइ। गुरु साखी जोति परगटु होइ। जो तिसु भावै सु आरती होइ।।३।। – हे ज्योति-स्वरूप परमात्मा, सब जीवों में तुम्हारी ही ज्योति विद्यमान है। तुम्हारे ही प्रकाश से सभी प्रकाशित हो रहे हैं। वह प्रकाश गुरु की शिक्षा से ही प्रकट होता है। जो आपको अच्छा लगता है, वही आपकी आरती हो जाता है।

हरि चरण कवल मकरंद लोभित, मनो अनदिनो मोहि आही

(शेष अगले पृष्ठ पर – नीचे)

इसने हमें हम छात्रों को मूर की उस कविता की याद दिला दी, जिसे हमने अपने स्कूल की किसी पाठ्य पुस्तक में पढ़ा था। उसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार थीं –

The Turf shall be my fragrant shrine,
My Temple, Lord, that arch of Thine.

(भावार्थ) हे प्रभो, घास का मैदान ही
मेरा सुगन्धित देवालय होगा।
आपका वह तोरण द्वार ही मेरा मन्दिर होगा।

स्वामीजी का शरीर, हमें दिखनेवाले अनेक बंगालियों के समान दुर्बलकाय नहीं, अपितु सुगठित तथा कुछ-कुछ स्थूलकाय था। रंग कुछ-कुछ ताँबे के जैसा बादामी था।

स्वामीजी का आचरण सहज-स्वाभाविक, अप्रभावित तथा अपरम्परागत था। साधु-सन्तों के बारे में हमारी धारणा के विपरीत उनके आचरण में आडम्बरपूर्ण गम्भीरता, नपा-तुला वाक्य-विन्यास और संयत मिजाज जैसा कुछ नहीं था। कभी-कभी जब कोई उनसे कोई मूर्खतापूर्ण प्रश्न करता या अपना ज्ञान ही बघारने के उद्देश्य से कोई प्रश्न करता और स्वामीजी जब उसे ठण्डा करना चाहते, तो ऐसे समय उनका आचरण कुछ-कुछ जॉनसन के समान और रूखा हो जाता। गर्मी का मौसम था। (यह उनके अमेरिका से लौटकर चेन्नै आने के बाद की घटना है।) एक दिन सुबह एक लम्बी बैठक हुई, जिसमें बहुत-से प्रश्न पूछे गये तथा उनके उत्तर दिये गये। बैठक के अन्त में एक अहंकारी युवक ने दिखावेपन के साथ पूछा – "स्वामीजी, इस संसार में दु:खों का क्या कारण है?" स्वामीजी बोल उठे – "अज्ञान ही दु:ख का कारण है।" और उठते हुए उन्होंने साक्षात्कार का वहीं पटाक्षेप कर दिया। एक अन्य समय श्रोताओं में से किसी एक ने स्वामीजी से कहा कि दर्शन-शास्त्र के किसी विषय पर उनके द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिकोण श्री शंकराचार्य से भिन्न है।" स्वामीजी बोले – "ठीक है, शंकराचार्य एक व्यक्ति थे और तुम भी एक व्यक्ति हो, अत: अपने लिये तुम स्वयं सोच सकते हो।" एक रूढ़िवादी पण्डित स्वामीजी से मिलने आये और उन्हें अपनी विद्वत्ता दिखाने की चेष्टा की। उनके विषय में स्वामीजी ने कहा था – "जो व्यक्ति 'ज्ञान' शब्द का उच्चारण भी ठीक से नहीं कर सकता, उसने भी मेरे संस्कृत उच्चारण में दोष निकालने का दु:साहस किया।"

१८९७ ई. में अमेरिका से चेन्नै (मद्रास) लौटने पर उनके लिये किया गया सार्वजनिक सत्कार-समारोह अत्यन्त भव्य था और उनका स्वागत करने इतनी बड़ी संख्या में लोग आये थे कि वैसा शायद ही कभी देखने में आता है। चेन्नै के उनके पहले व्याख्यान को बड़ा सफल नहीं कहा जा सकता, परन्तु भीड़ का अति उत्साह ही इसका कारण था। जहाँ तक मुझे याद आता है, एक बड़े सर्कस के तम्बू* में इसका आयोजन हुआ था, परन्तु उस भीड़ के लिये वह भी छोटा पड़ गया। अत: स्वामीजी बाहर निकल आये और भीड़ को 'गीता की शैली' में सम्बोधित करने के लिये एक घोड़ेगाड़ी में सवार हो गये। उन्होंने अपनी अधिकतम आवाज तथा हावभाव के द्वारा लोगों को समझाने का प्रयास किया, परन्तु कुछ भी काम नहीं आया। शोरगुल तथा अव्यवस्था इतनी अधिक थी कि थोड़ी देर बाद ही व्याख्यान का प्रयास छोड़ देना पड़ा। 'भारत के महापुरुष' विषय पर 'विक्टोरिया हॉल' में आयोजित उनका अगला व्याख्यान खूब सफल रहा। यह उनकी धाराप्रवाह वाग्मिता के फलस्वरूप बड़ा प्रभावी हुआ था। जब वे श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम का वर्णन करते हुए इस दिव्य प्रेम का महत्त्व समझा रहे थे, उस समय उनकी आँखें तथा उनके चेहरे का भाव आनन्दपूर्ण था और सबकी अन्तरात्मा को आन्दोलित कर रहा था।

मैरीना में कैपर हाउस होटल के पास और क्वीन मेरीज कॉलेज के वर्तमान परिसर के पास लगे हुए एक शामियाने में प्रतिदिन प्रात:काल एक अनौपचारिक धर्मचर्चा तथा प्रश्नोत्तर की व्यवस्था की गयी थी। उस समय चेन्नै के हिन्दू समाज के नेता, बड़े अधिकारी, वकील तथा अन्य लोग सैकड़ों की संख्या में आते और हम छात्रों को स्वामीजी के निकट पहुँचने में बड़ी कठिनाई होती। एक दिन सुबह एक यूरोपीय महिला (जो सम्भवत: एक प्रोटेस्टेंट मिशनरी थी) आयी और संन्यासी के जीवन में बलपूर्वक पालित ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ निन्दासूचक स्वर में बताने लगी कि इस नैसर्गिक प्रवृत्ति को रोकने से कैसे हानिकर परिणाम हो सकते हैं। स्वामीजी ने थोड़ी देर तक संन्यासी के जीवन में ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से प्रकाश डाला (जो शायद उस महिला को जँचा नहीं या समझ में नहीं आया) और इसके बाद वे उसकी ओर उन्मुख होकर किंचित् विनोदपूर्वक

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

पिआसा। क्रिपा जलु देहि नानक सारिंग कउ, होइ जा ते तेरै नाइ वासा ।। – हरि के चरण-कमलों के पराग पर लुब्ध मेरा भ्रमर-रूपी मन प्रतिदिन प्यासा रहता है। नानक कहते हैं – हे प्रभो, मुझ पपीहे को अपनी कृपा का जल प्रदान करो, ताकि मैं तुम्हारे नाम में ही तल्लीन रहूँ॥

'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (खण्ड २, सं. १९९९, पृ. ९२५) ग्रन्थ में स्वामीजी द्वारा इस भजन के कई बार गाने का उल्लेख मिलता है, यथा – दि. ७ अप्रैल १८८३, ९ मई १८८५ को। पुरानी बँगला पुस्तकों में इसे राग जयजयवन्ती तथा झापताल में गेय बताया है, अत: स्वामीजी ने इसे इसी राग में गाया होगा। (संगीत-कल्पतरु, बंगला ग्रन्थ, कोलकाता, सं. २०००, पृ. १३५-१३६ तथा २५२)

* वस्तुत: इस सभा का आयोजन 'विक्टोरिया हॉल' में हुआ था।

कहने लगे – "मैडम, आपके देश में एक अविवाहित व्यक्ति से लोग भयभीत रहते हैं, परन्तु यहाँ आप देख रही हैं कि लोग मुझ अविवाहित व्यक्ति की पूजा कर रहे हैं।"

यहाँ मैं इस बात का भी उल्लेख करना चाहूँगा कि एक बार स्वामीजी ने बातें करते समय व्यक्तिगत रूप से स्वीकार किया था – "इस समय मेरी आयु तीस वर्ष है और अब तक मैंने किसी भी स्त्री को अन्तरंग रूप से नहीं जाना।"

एक बार उन्होंने श्रोताओं के बीच उपस्थित कुछ युवा छात्रों की ओर उन्मुख होकर कहा था कि शारीरिक शक्ति तथा स्वास्थ्य का विकास करना उनका पहला कर्तव्य है। वे बोले – "फुटबाल खेलने से तुम गीता को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे।" एक अन्य समय उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि जो लोग शारीरिक रूप से दुर्बल हैं, वे सहज ही प्रलोभन के वशीभूत हो जाते हैं; और उनकी तुलना में, ऐसे लोग जिनमें शारीरिक ऊर्जा तथा शक्ति का प्राचुर्य है, उनमें प्रलोभनों पर विजय पाने तथा संयमपूर्ण जीवन बिताने की कहीं अधिक क्षमता होती है। एक बार उन्होंने स्वयं के बारे में कहा था – "इन वस्त्रों के भीतर एक उस्ताद (अर्थात् एक कुशल पहलवान) छिपा है।"

उस समय (१८९७ ई. में, अमेरिका से लौटने के बाद) स्वामीजी मैरीना के समुद्र-तट पर स्थित सुप्रसिद्ध भवन कैसल कर्नन में निवास कर रहे थे। जब मैं पहली बार चेन्नै गया, तब वह आइस-हाउस के नाम से सुपरिचित था। उसके बाद श्री बिलिगिरि अयंगार ने इसे खरीदकर न्यायमूर्ति कर्नन की स्मृति में इसे 'कैसल-कर्नन' नाम दे दिया।

इन स्मरणीय दिनों के दौरान हम कुछ छात्रों को भी कैसल कर्नन में निमंत्रण मिला था और हमने जाकर स्वामीजी के साथ भोजन किया। स्वामीजी खूब खा सकते थे और दिल खोलकर खाते भी थे। एक बार अपने सामने रखी आइसक्रीम की एक तश्तरी की ओर संकेत करते हुए वे विनोदपूर्वक बोले – "इसको छोड़कर मैं बाकी सब कुछ का त्याग करने को तैयार हूँ।" उनके बैंगलोर के मित्र बीच-बीच में उन्हें टोकरियाँ भर-भरकर फल भेजा करते थे। वे फल ज्योंही पहुँचते, त्योंही उन्हें खोलकर वहाँ उपस्थित लोगों में बाँटा जाता और स्वामीजी भी उन्हें खाते।

कभी-कभी सुबह के समय स्वामीजी कैसल कर्नन के सामने अनेक छात्रों के साथ समुद्र में स्नान किया करते थे। बीच-बीच में 'त्रिप्लिकेन लिटरेरी सोसायटी' के कमरों में उनके अनौपचारिक व्याख्यान का आयोजन किया जाता था। दीवान बहादुर आर. रघुनाथ राव तथा अन्य अनेक समाज-सुधारक उसे सुनने जाया करते थे। उन श्रोताओं में इतिहास के मेरे पुराने उप-प्राध्यापक श्री ए. सुब्बाराव भी थे, जो एक अटल समाज-सुधारक तथा अज्ञेयवादी थे। स्वामीजी ने किसी-किसी समाज-सुधारक का तिरस्कार करते हुए उनके दृष्टिकोणों तथा पद्धतियों में दोष दिखाया था। एक बार श्री सुब्बाराव ने हमारे प्राचीन ऋषियों के चिन्तन-शक्ति तथा मतों के विषय में कुछ अवज्ञासूचक टिप्पणी की थी। इस पर स्वामीजी ने कहा कि ऋषि लोगों ने दीर्घकाल तक आत्मसंयम का अभ्यास करके ध्यान की जो सूक्ष्म शक्ति प्राप्त की थी, श्री सुब्बाराव उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते और बोले – "यदि तुम उनके समान आधा मिनट भी चिन्तन करो, तो जलकर राख हो जाओगे।"

एक दिन संध्या के समय जब स्वामीजी 'त्रिप्लिकेन लिटरेरी सोसायटी' में 'ईश्वर पर विश्वास' विषय पर व्याख्यान दे रहे थे, तभी दीवान बहादुर रघुनाथ राव गम्भीरतापूर्वक बीच में बोल उठे – "मैं तो सर्वदा इसी बात का प्रचार करता रहा हूँ कि ईश्वर में विश्वास नहीं करनेवाला कोई भी राष्ट्र, कोई भी जाति और कोई भी व्यक्ति कभी महान् नहीं हुआ है।" इस पर कुछ अश्रद्धालु विद्यार्थी व्यंगपूर्वक मुस्कुरा उठे थे।

स्वामीजी ने अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण पर चर्चा करते हुए उनके द्वारा 'अहंकार'-नाश के लिये अपनाये गये कुछ विचित्र-से प्रतीत होनेवाले उपायों के बारे में बताया और बोले कि इनका महत्त्व, विशेषकर यूरोप तथा अमेरिका में, बहुत-से लोगों द्वारा समझा नहीं जा सका। अमेरिका के आम श्रोताओं के विषय में वे बोले – "यदि मैं उनके समक्ष इन साधनों की चर्चा करता, तो उन लोगों ने मुझे और मेरे गुरुदेव को पास के किसी गड्ढे में फेंक दिया होता।"

चर्चा के दौरान जब (हिन्दू तथा ईसाई) आम जनता पर उनके धार्मिक विश्वासों का प्रभाव का विषय आया, तो स्वामीजी बोले – "यदि तुम मेरे समान यूरोप तथा अमेरिका की गन्दी बस्तियों में गये होते और देखा होता कि उनके निवासी कैसे वन्य जन्तुओं के समान हैं, और फिर उनके साथ भारत के अपने जन-साधारण के साथ उनकी तुलना की होती, तो हिन्दू धार्मिक विश्वासों का आम जनता पर प्रभाव के विषय में तुम्हारी शंकाएँ दूर हो गयी होतीं।"

(वेदान्त केसरी, मई १९२७)
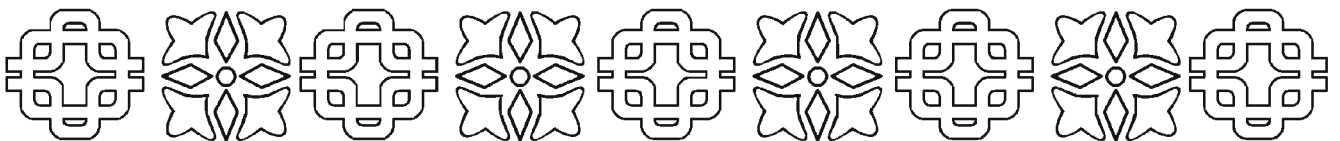
माँ की स्मृतियाँ

स्वामी शंकरानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९०४ या १९०५ की बात है। खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द), मैं और विश्वरंजन (स्वामी हरिहरानन्द) माँ के गाँव गये। माँ उस समय जयरामबाटी में थीं। ... माँ ने स्वयं रसोई बनायी और हम लोगों को पास बिठाकर बड़े यत्नपूर्वक सब खिलाया। वह स्नेह-प्रेम कितना सहज और सुन्दर था! बिल्कुल प्रत्यक्ष, मानो हृदय में प्रविष्ट हो गया।

भोर में उठकर मैं और खोका महाराज शौच के लिये गये। मैदान के बीच से होकर हम नदी की ओर जा रहे थे। खोका महाराज ने देखा – एक महिला सिर पर टोकरी लिये चली आ रही है। हमें देखकर उसने वह सामान एक अन्य महिला के सिर पर चढ़ा दिया और उसी की आड़ में खड़ी हो गयी। हम लोग जब उनकी दृष्टि से थोड़ा ओझल हो गये, तो वह माँ के घर की ओर बढ़ी। मैंने खोका महाराज से पूछा – "क्या आपने पहचाना कि ये कौन हैं?" वे बोले – "हाँ, मैंने पहचाना है, खूब स्पष्ट रूप से देखा है। वे हमारी माँ ही थीं। इतनी रात को उठकर पास के गाँव के बाजार से हम लोगों के लिये सब्जी लाने गयी थीं।" गाँव में क्या यह सब उन्हें मिलेगा? उस टोकरी में शहजन के कुछ डण्ठल, केले के तने और कच्चे केले आदि थे। यह सुनकर मैं तो अवाक् रह गया। तब तो यहाँ ज्यादा दिन ठहरना उचित नहीं होगा। माँ हम लोगों के लिये इतने कष्ट उठा रही हैं! सारे दिन जी तोड़ परिश्रम और रात में भी सो नहीं पातीं। वहाँ तीन रात निवास करने के बाद माँ से विदा लेकर हम आरामबाग चले आये।

* * * *

१९१२ ई. की बात है। मैं राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के साथ वाराणसी के अद्वैत आश्रम में निवास कर रहा था। माँ भी उस समय वाराणसी में ही थीं। महाराज ने मुझसे कहा – "देख अमूल्य, आज आलूचाप बनाकर माँ को खिलाना है।" मैं बाजार से मोचा[१] और आलू खरीद लाया; दोनों को उबाला। मोचे को भीतर भरना था। उबले हुए आलुओं को छीलकर मसलते समय देखा कि वे गलकर बिल्कुलनरम हो गये हैं। तब उसे कुछ और मिलाकर थोड़ा कड़ा किया। चाप बन जाने के बाद मैं उन्हें एक थाली में सजाकर पूजाघर में ले गया। तब तक माँ की पूजा लगभग समाप्त हो चली थी। नैवेद्य की अन्य वस्तुओं के साथ माँ ने वे चाप भी ठाकुर को निवेदित किया। माँ ने भी बाकी प्रसाद के साथ चाप भी खाया। उन्हें बड़ा अच्छा लगा। वैसे माँ का स्वभाव था कि वे हर चीज को भली दृष्टि से ही देखती थी। गोलाप-माँ ने भी खाया। चाप अच्छे कुरमुरे हुए थे। खाकर उन्होंने प्रशंसा की। शाम को उपर के बरामदे से गोलाप-माँ ने मुझसे पूछा – "अमूल्य, इतने अच्छे चाप तुमने कैसे बनाये? ऐसा कुरमुरा और स्वादिष्ट!" महाराज भी उस समय बरामदे में ही खड़े थे। उन्होंने आँखें दबाकर मुझे चुप रहने का इशारा किया। मैं बिना कोई उत्तर दिये मौन खड़ा रहा। महाराज बोले – "गोलाप माँ, तुम सोचती हो कि तुम्हीं लोग अच्छा खाना बनाना जानती हो। अब देखो, हम भी तुम लोगों से अच्छा खाना बना सकते हैं।" बाद में महाराज ने मुझसे बनाने की विधि पूछी। मैंने बताया – "उबालते समय जब आलू अधिक गल गया, तो मैंने सूजी को भुनकर उसमें मिला दिया था। और भरे जाने वाले मोचे के साथ मसाला भी भूनकर मिला दिया था।[२]

* * * *

माँ उस समय उद्बोधन में थीं। एक रविवार की संध्या को शाम के लगभग तीन बजे ठाकुर की भतीजी लक्ष्मी दीदी तीन भक्तों के साथ वहाँ आयीं। सबने माँ का दर्शन और उन्हें प्रणाम किया। माँ ने लक्ष्मी दीदी से कहा – "योगीन (योगीन-माँ) को बहुत बुखार है, सो रही है। उसे एक बार देख आओ।" लक्ष्मी दीदी योगीन-माँ को देखने गयीं। उस समय योगीन-माँ को काफी बुखार था। योगीन-माँ के कमरे से निकलकर लक्ष्मी दीदी अपने संगियों के साथ एन्टाली (देवेन्द्रनाथ मजूमदार के आश्रम) चली गयीं। वहाँ ठाकुर की तिथिपूजा का उत्सव चल रहा था।

१. केले के तने का भीतरी नरम हिस्सा

२. उद्बोधन ९८वाँ वर्ष, संख्या ५, ज्येष्ठ १४०३ पृ. २२० तथा स्वामी शंकरानन्देर गल्पकथा, बामुन मूड़ा, १९६६ पृ. ९, १७-१८

थोड़ी देर बाद माँ ने खोज-खबर ली, तो पता चला कि लक्ष्मी दीदी चली गयी हैं। माँ ने पूछा कि उन्हें प्रसाद दिया गया है या नहीं, परन्तु कोई निश्चित रूप से बता नहीं सका कि दिया गया है। इससे वे बड़ी विचलित हो उठीं – शायद इस कारण कि लक्ष्मी दीदी का जन्म शीतला-माता के अंश से हुआ था। ठाकुर स्वयं यह बात कह गये थे। और वे अपनी इस छोटी भतीजी के साथ हमेशा मधुर व्यवहार करते थे। बाद में यह सोचकर कि लक्ष्मी दीदी के रुष्ट होने से कहीं अमंगल न हो, माँ ने तुरन्त एक लड़के को बुलाकर उसके हाथ एक अच्छी साड़ी और मिठाई के लिये दो रुपये देकर उसे एन्टाली के उत्सव में जाकर लक्ष्मी के हाथ में यह सब देने का निर्देश दिया और यह भी कहने को कहा कि माँ ने सोचा था कि जाने से पहले आप उनसे मिलकर जायेंगी। वे आपका उचित आदर-सत्कार नहीं कर सकीं, इसके लिये उन्हें खेद है। उन्होंने यह सब आपके पास भेजा है।''

लड़के ने एन्टाली जाकर देखा – लक्ष्मी दीदी अनेक सम्भ्रान्त महिलाओं से घिरी बैठी हैं। वह सावधानीपूर्वक उनके बीच गया और भक्तिभाव से उन्हें प्रणाम करके माँ ने जो कुछ कहने को कहा था, कह सुनाया। सुनकर लक्ष्मी दीदी जितनी प्रसन्न हुईं, उतनी ही लज्जित भी हुईं कि आने के पहले वे माँ को बताकर नहीं आयीं। उन्होंने कहा –''मेरे साथ की महिलाएँ यहाँ आने के लिये इतनी उतावली हो रही थीं कि मैं माँ को बताना भूल गयी। खैर, माँ को मेरा भक्तिपूर्ण प्रणाम बताना और कहना कि मैं अन्य किसी दिन माँ के पास आकर वहीं पूरा दिन बिताऊँगी।''

लक्ष्मी दीदी ने जो कुछ कहा था, लड़के ने लौटकर वह सब माँ को बताया, तब वे पूरी तौर से निश्चिन्त हुईं। दो-तीन दिन बाद ही जिस दिन लक्ष्मी दीदी ने आकर पूरा दिन माँ के पास बिताया, उस दिन माँ को बड़ा आनन्द हुआ था।

लक्ष्मी दीदी ने जो कुछ कहा था, लड़के ने लौटकर वह सब माँ को बताया, तब वे पूरी तौर से निश्चिन्त हुईं। दो-तीन दिन बाद ही जिस दिन लक्ष्मी दीदी ने आकर पूरा दिन माँ के पास बिताया, उस दिन माँ को बड़ा आनन्द हुआ था।[३]

श्रीमाँ सारदा देवी

स्वामी माधवानन्द

भगवान श्रीरामकृष्ण की महाशक्ति होकर भी माँ ने स्वयं को पूर्ण रूप से गोपनीय रखकर अपना दिव्य जीवन बिताया था। परन्तु अब देखने में आ रहा है कि उनका पुण्य-प्रभाव अज्ञात रूप से देश-विदेश के असंख्य नर-नारियों के हृदय पर अधिकार जमा रहा है। अन्यथा उनके तिरोभाव के बाद उनके नाम पर विभिन्न श्रेणियों के लोगों में इस प्रकार उन्माद पैदा नहीं होता। (१९५४ ई. में) उनके जन्मस्थान जयरामबाटी में उनकी संगमरमर की मूर्ति-स्थापना के अवसर पर अपनी शारीरिक सुविधा की परवाह न करते हुए हजारों भक्त नर-नारियों की उपस्थिति में जो आनन्दोत्सव हुआ था, उसे जिन लोगों ने देखा है, वे कभी भूल नहीं सकेंगे। यह हमें श्री चैतन्यदेव के अद्भुत आकर्षण की बात दिला देता है। वस्तुतः जहाँ यथार्थ ईश्वरीय शक्ति का प्राकट्य होता है, वहाँ ऐसा ही हुआ करता है।

स्वामी विवेकानन्द के सुयोग्य गुरुभ्राता स्वामी प्रेमानन्द एक पत्र में लिखते हैं – ''जो विष हम लोग स्वयं नहीं पचा पाते, वह सब माँ के पास भेज रहे हैं। माँ सबको गोद में उठा ले रही हैं। अनन्त शक्ति, अपार करुणा! ... स्वयं ठाकुर को भी ऐसा करते नहीं देखा। वे भी कितना ठोक-बजाकर चुने हुए लोगों को लेते थे। और यहाँ – माँ के पास हम लोग क्या देख रहे हैं? अद्भुत, अद्भुत! सभी को आश्रय दे रही हैं, सबकी चीजें खा रही हैं और सब हजम भी हो जा रहा है। माँ! माँ! जय माँ!''

माँ का द्वार ऐसा उन्मुक्त होने के कारण ही हमारे समान कितने ही लोगों को उनके चरणों में आश्रय मिला है। १९०९ ई. के एक दिन की बात है। पूजनीय शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) उस समय कोलकाता के बलराम बाबू के मकान में थे। उन्होंने लेखक को आध्यात्मिक जीवन के लिये परम कल्याणकारी दो-चार बातें बताने के बाद कहा था – ''माँ से दीक्षा ले लो। उसी से सब कुछ हो जायेगा।''[४] वस्तुतः इन्हीं लोगों ने माँ की महिमा को यथार्थ रूप से समझा था और इसीलिये ये लोग परम श्रद्धा के साथ उनके पास जाते थे। मनुष्य अपने-अपने भाव के अनुसार ही संसार की सभी वस्तुओं को देखता है। इसीलिये जगन्नाथ-दर्शन के लिये जाकर भी किसी-किसी का वहाँ पुईमाचा[५] देखना

३. Sri Sarada Devi : The Great Wonder, Ed. Swami Budhananda Ramakrishna Mission, New Delhi, 1984, Pp. 111-12 (इस घटना का उल्लेख लक्ष्मीमणि देवी की स्मृति-कथा में भी है।)

४. मठ के पुराने संन्यासियों से सुनने में आया है कि उन लोगों ने स्वयं माधवानन्द जी से ही सुना था कि उसके बाद ही (१९०९ ई. में) उन्हें उद्बोधन में श्रीमाँ से मंत्रदीक्षा प्राप्त हुई थी।

५. एक वृद्धा जगन्नाथ प्रभु का दर्शन करने गयी। जाते समय उसके मन में बराबर एक चिन्ता बनी रही। उसके घर में पुई-साग का पौधा बड़ा हो गया है। उसके लिये मचान बनाया गया था। वह बहू को बार-बार कह आयी थी कि देखना, कहीं गाय-बकरी पौधे को न चर जायँ। क्या बहू उस पौधे की ठीक से देखभाल कर रही होगी? कहीं उसे गाय-बकरी तो नहीं खा गये होंगे? अन्त में जब वह मन्दिर में जगन्नाथ-विग्रह का दर्शन कर रही थी, तो उसने विग्रह की जगह पर देखा – जगन्नाथजी की वेदी पुई-साग से भरी हुई है।

आश्चर्य की बात नहीं है। छात्रावस्था में १९०९ ई. के अन्त में मैंने मित्रों के साथ जयरामबाटी जाकर माँ का पहली बार दर्शन किया। मेरे लिये यह बड़े दुःख की बात है कि उस दर्शन की धुँधली-सी स्मृति ही आज मेरे मन में बची है।

रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष पूजनीय विरजानन्द जी महाराज के साथ, १९१० के ग्रीष्मकाल में, मैं दूसरी बार जयरामबाटी गया। उस समय स्वामी विरजानन्द जी महाराज मायावती (हिमालय) स्थित अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष थे। इतना याद है कि माँ उन्हें देखकर अपनी प्रिय सन्तान को अत्यन्त स्नेहपूर्वक खिलाने-पिलाने को व्यग्र हो उठी थीं। उसी समय उनके श्रीमुख से सुना कि ठाकुर ही सब हैं, साधन-भजन सबके लिये सहज-साध्य नहीं है; अत: सिर ठण्डा रखकर ही साधना करनी चाहिये और संघ का काम ठाकुर की ही सेवा है।

१९१३ के अन्त से लेकर दो वर्ष तक जब मैं उद्बोधन में रहता था, उस समय माँ के कोलकाता आने पर नित्य उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला था। परन्तु उनसे कोई प्रश्न करने की बात मन में नहीं आयी। उनके श्रीचरणों के नीचे निवास कर रहा हूँ – यह सोचकर ही मन में तृप्ति का बोध करता था।

१९१८ ई. में जयरामबाटी में मैंने माँ का अन्तिम बार दर्शन किया। उद्बोधन में या अन्यत्र – सभी जगह अनेक छोटी-मोटी घटनाओं के माध्यम से मैं उनके सहज स्वाभाविक मातृस्नेह और अहैतुक करुणा का परिचय पाकर धन्य हुआ हूँ। इसमें हम लोगों का कोई गुण नहीं है, बल्कि उन्हीं का जगदम्बा-सुलभ माहात्म्य है। बाद में जब भक्तों द्वारा रचित उनकी स्मृतिकथाएँ पढ़ता हूँ, तब कभी-कभी लगता है कि माँ से इसी प्रकार कुछ पूछना उचित होता। परन्तु उन्हीं की उक्ति से हम लोग यह जानकर निश्चिन्त हो सकते हैं कि शिष्य के लिये कुछ करणीय था, वह सब उन्होंने दीक्षादान के समय ही कर दिया है। साधारण गुरु तथा उनके बीच यही भेद है।

स्थूल शरीर का परित्याग कर देने के बावजूद भी वे श्रीरामकृष्ण की ही भाँति सूक्ष्म शरीर में विद्यमान हैं। श्रीरामकृष्ण ने जीवों के उद्धार का जो कार्य आरम्भ किया था, उसे पूरा करने के लिये ही पति के तिरोभाव के बाद भी स्वेच्छापूर्वक ही वे इतने दीर्घ काल तक माया-बन्धन स्वीकार करके धराधाम में रहीं। धर्म-जगत् के इतिहास में ऐसा कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। शिव-शक्ति के इस अपूर्व लीला का चिन्तन करने का सौभाग्य पाकर हम सभी धन्य हो गये हैं। महापुरुषों के देह-त्याग के उपरान्त उनकी आध्यात्मिक शक्ति और भी व्यापक रूप से क्रियाशील हो जाती है। संसार के सभी नर-नारी उनके दिव्य जीवन और उपदेशामृत का रसास्वादन करके अमरत्व प्राप्त करें – यही उनके चरणों में मेरी प्रार्थना है।*

❖ (क्रमशः) ❖

(संग्राहक – स्वामी चेतनानन्द)

पुरखों की थाती

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः ।।
वासुदेवं नमन्तीमे वसुदेवं न मानवाः ।।

– सर्वत्र गुणों की ही पूजा होती है, अपने वंश का बखान करना निरर्थक है। लोग वसुदेव की नहीं, बल्कि उनके पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण को ही प्रणाम करते हैं।

गुणी गुणो वेत्ति न वेत्ति निर्गुणो,
बली बलं वेत्ति न वेत्ति दुर्बलः ।
पिको वसन्तस्य गुणं न वायसः
करी च सिंहस्य बलं न मूषकः ।।

– गुणवान व्यक्ति ही दूसरों के गुणों की महत्ता समझता है, गुणहीन व्यक्ति नहीं, उसी प्रकार जैसे कोयल ही वसन्त ऋतु की महत्ता को समझती है, कौआ नहीं; बलवान व्यक्ति ही किसी दूसरे व्यक्ति के बल को समझ सकता है, दुर्बल नहीं, उसी प्रकार जैसे हाथी ही सिंह के बल को समझ सकता है, चूहा नहीं।

गुणोऽपि दोषतां याति वक्रीभूते विधातरि ।
सानुकूले पुनस्तस्मिन् दोषोऽपि गुणायते ।।

– भाग्य खराब होने पर अपने गुण भी दोष सिद्ध होते हैं और उसके अनुकूल होने पर दोष भी गुण के समान फलदायी होते हैं।

गेहमेव-उपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याप्यरण्यानी विजना सजना पुरी ।।

– शान्त व्यक्ति के लिये अपना घर ही घोर निर्जन वन के समान है; और अशान्त व्यक्ति के लिये निर्जन वन भी लोगों से परिपूर्ण नगर के समान है।

---

* उद्बोधन, श्रीश्रीमाँ-शतवर्ष-जयन्ती संख्या, वैशाख १३६१ (पुनर्मुद्रित – वही, वर्ष ९८, संख्या ४, वैशाख १४०३, पृ. १९१)

रामकृष्ण मिशन, छपरा : एक परिचय

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही लोकहित-कारिणी परोपकारिणी तथा लोक-आनन्ददायिनी रही है। परतंत्रता, परोपजीविता, परावलम्बता इसका सच्चा स्वरूप नहीं है। यह तो जन-सुखकारिणी, लोकहर्षकारिणी, सुख-शान्तिदायिनी एवं मुक्ति-विधायिनी है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण आदि ने प्राणियों के दुख से दुखी होकर, उन्हें दु:खमुक्त करने एवं शान्ति, आनन्द प्रदान करने हेतु ईश्वर रूप में अवतार लिया। भगवान बुद्ध ने हजारों वर्षों पूर्व अपना राज-वैभव, अपार भोग-सुख त्यागकर 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग किया तथा संसार में शान्ति, अहिंसा, सौहार्द, समन्वय और प्रेम का सन्देश दिया। श्री शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, चैतन्यदेव, सन्त तुकड़ोजी, सन्त ज्ञानेश्वर, नरसी मेहता, सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, रविदास, तिरूवल्लुअर और स्वामी विवेकानन्द आदि आचार्यों ने भारत के विभिन्न भागों में जन्म लेकर मानव को प्रेम, सद्भाव का पाठ पढ़ाया तथा सन्मार्ग दिखाकर भक्ति-ज्ञान आदि के सदुपदेश से मानव को मुक्ति-पथ पर अग्रसर किया।

लोक-कल्याणकारी, मानव की चहुँमुखी सुदृढ़ सेवा-शृंखला में बिहार के छपरा जिले की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका है। जैसे वाराणसी के मार्कण्डेय महाधाम में गंगा-गोमती का संगम और प्रयाग के त्रिवेणी में गंगा-यमुना-सरस्वती का संगम है, वैसे ही छपरा में सरयू-गंगा का संगम है। छपरा तीन ओर से नदियों से आवृत्त है – उत्तर और पूरब में गंडकी नदी से और दक्षिण में गंगा और सरयू नदी से। यह वही स्थान है, जहाँ ऋषि दधिचि ने परोपकारार्थ अपनी अस्थियाँ जीते-जी दान कर दी थीं। उनका मन्दिर आज भी पावन नदी सरयूजी के तट पर विद्यमान है। यहीं गौतम ऋषि का आश्रम, अहिल्या-उद्धार मन्दिर है, जहाँ भगवान के पद-चिह्न और शिला अभी भी विद्यमान हैं। यहीं श्रीरामभक्त हनुमानजी की ननिहाल है, जहाँ जाने पर नानी की याद आ जाती है। यहीं कभी परम भक्त राजा मौर्यध्वज की राजधानी थी। 'सिसवन' में शृंगी ऋषि ने तपस्या की थी। आमी में राजा सुरथ की समाधि है। दिघवारा में महाराजा दक्ष की पुत्री 'सती' का आत्मदाह स्थल है, जिसे 'दक्ष-महल कहते हैं, जो छपरा से ३० कि.मी. पूरब में है। थावे में चेरोबंश द्वारा निर्मित 'काली-मन्दिर' है, जहाँ 'रहसु गुरु' का मस्तक फाड़कर माँ ने दर्शन दिया था। बैकण्ठपुर में महाराजा युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ-स्थल है। इसके अतिरिक्त अनेकों ऐतिहासिक, पौराणिक एवं महान् पुरुषों के पावन पद-रज से छपरा की पवित्र भूमि विभूषित है, उन सबका उल्लेख करना यहाँ असम्भव है। भारतीय संस्कृति की शृंखला में श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी अद्भुानन्द जी 'लाटू महाराज' भी एक अप्रतिम एवं सुदृढ़ शृंखला हैं। भारत के शाश्वत सनातन सार्वभौमिक सर्वजनहितकारी श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा को संसार में जन-जन तक पहुचाने में 'लाटू महाराज' भी एक प्रमुख स्वर्ण-स्तम्भ हैं। उनका जन्म छपरा जिले में हुआ था। इस धरती पर उनके पावन अवतरण से 'छपरा'-निवासी अपने को गौरवशाली एवं भाग्यशाली अनुभव करते हैं।

एक बार सन् १९२० में, वाराणसी में स्वामी अद्भुतानन्द जी महाराज ने अपना पार्थिव शरीर त्यागने के पूर्व अपने सेवक से कहा था – "यदि मेरे देश (जन्मभूमि) में भी ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) का भाव-प्रचार होता, तो बड़ा अच्छा होता।" वर्तमान 'रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा' उनकी प्रबल इच्छा का मूर्त विग्रह है, जो वर्षों बाद साकार हुआ। उस सत्य-संकल्पवान महान सन्त की वाणी कैसे सत्य-सिद्ध हुई और परमात्मा ने इस पुण्य कार्य में किनको निमित्त बनने का सौभाग्य प्रदान किया, इसका संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत है –

ईश्वर की अद्भुत प्रेरणा से सन् १९८२ में रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिक पत्रिका 'विवेक शिखा' का प्रकाशन छपरा से प्रारम्भ हुआ। ३१ अक्टूबर, १९८३ को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी आत्मानन्द जी महाराज छपरा आये हुये थे। श्रीरामकृष्ण के गृहीभक्त तथा पथ-निर्माण (P.W.D) के कार्यपालक अभियन्ता श्रीराय मनेन्द्र प्रसाद ने १ नवम्बर को स्वामी आत्मानन्द जी को अपने घर भोजन हेतु आमन्त्रित किया। उस भोज में नगर के अन्य प्रतिष्ठित नागरिक – नगरपालिका अध्यक्ष श्री महेन्द्र प्रसाद, अधिवक्ता श्री ब्रजमोहन प्रसाद सिन्हा, डॉ. केदारनाथ लाभ आदि अनेकों लोग आमन्त्रित थे। वहीं पर स्वामी आत्मानन्दजी ने श्री महेन्द्र प्रसाद जी से कहा – "छपरे में रामकृष्ण आश्रम की स्थापना होनी चाहिये। आप इस कार्य में लाभजी की मदद करें।" ३ नवम्बर को स्वामीजी लाभजी के घर गये। किसी भक्त के पूछने पर उन्होंने कहा – "जब तक छपरा में रामकृष्ण आश्रम की स्थापना नहीं होगी, तब तक मैं नहीं आऊँगा।"

जुलाई, १९८४ में रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के तत्कालीन सचिव पूजनीय स्वामी वेदान्तानन्द जी महाराज ने श्री केदारनाथ लाभ जी को पटना बुलाकर छपरा में एक आश्रम स्थापित करने के लिये अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की। श्रीलाभ जी किसी काम से राँची गये हुये थे। वहाँ छपरा के निवासी श्री उमेशचन्द्र जी वाणिज्य-कर के सहायक आयुक्त के पद पर कार्यरत थे। लाभजी ने उनसे छपरा में आश्रम-स्थापना की चर्चा चलायी तथा इस विषय में स्वामी

आत्मानन्द जी और स्वामी वेदान्तानन्द जी का प्रसंग भी उद्धृत किया। परमात्मा की कृपा से पुण्य प्रबल हुआ। सद्य: विवेक जाग्रत हो गया। आश्रम का प्रस्ताव सुनते ही उमेश बाबू की धर्मपत्नी श्रीमती मंजु रस्तोगी ने छपरा का अपना भवन देने की सानन्द स्वीकृति प्रदान कर दी। पत्नी की सदिच्छा में पति श्री उमेश बाबू ने भी सहर्ष योगदान दिया। बस क्या था! शुभस्य शीघ्रम् – शुभ कार्य को अविलम्ब, शीघ्र कर देना चाहिये, ऐसा शास्त्र का मित्र-सम्मित उपदेश एवं प्रभु-सम्मित सत्परामर्श है। रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची के तत्कालीन सचिव स्वामी शुद्धव्रतानन्द जी महाराज ने सहर्ष आश्रम-स्थापना का दिवस भी निश्चित कर दिया।

११ अगस्त, १९८४, श्रावणी पूर्णिमा के दिन स्वामी वेदान्तानन्द जी महाराज, स्वामी शुद्धव्रतानन्द जी महाराज के कर कमलों से श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द के चित्रपट की प्रतिष्ठा हुई। एक वाचनालय और एक होमियोपैथी चिकित्सालय के द्वारा सेवा-कार्य आरम्भ हुआ।

रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने १० अगस्त, १९८५ को श्री केदारनाथ लाभ जी को एक पत्र लिखकर, 'स्वामी अद्भुतानन्द स्मारक' स्थापित करने की प्रेरणा दी तथा आगामी वर्ष तक इस स्मारक की स्थापना के लिये आवश्यक सभी कदम उठाने का निर्देश दिया। २ सितम्बर, १९८६ को बिहार सोसाइटिज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के अन्तर्गत 'श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम' का पंजीकरण हो गया।

अक्टूबर, १९८६ में स्वामी आत्मानन्द जी महाराज छपरा आये हुये थे। आश्रम हेतु भू-खण्ड की बात चली। उस समय आश्रम की स्थापना के लिये उपयुक्त भूमि की खोज हो रही थी। कुछ लोग स्वामीजी के साथ भूमि देखने चल दिये। एक भू-खण्ड को देखकर स्वामीजी वहीं रुककर बोले, "बस यह जमीन अच्छी है। इसी के लिये आप लोग प्रयास कीजिये।" इसके लिये श्रीलाभ जी और स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने श्री आभास कुमार चटर्जी, आइ. ए. एस. तत्कालीन सचिव, राजस्व पार्षद, बिहार सरकार से भेंट की तथा उपरोक्त भू-खण्ड के आबंटन हेतु उनसे निवेदन किया। श्री चटर्जी साहेब ने सहानुभूतिपूर्वक जमीन की स्थिति से अवगत कराया। वह जमीन बेतिया राज की थी। बेतिया राज कोर्ट ऑफ वार्ड्स के अन्तर्गत था। अत: सारण के समाहर्ता अधिकारी, आयुक्त तिरहुत प्रमण्डल एवं व्यवस्थापक बेतियाराज के काफी जाँच-पड़ताल एवं अनुकूल प्रतिवेदनों के बाद बेतिया राज के व्यवस्थापक ने २१ सितम्बर, १९८८ को १.९८ एकड़ जमीन का रजिस्ट्रेशन कर दिया।

७ नवम्बर, १९८८ को स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने हैदराबाद के टाउन प्लानिंग डायरेक्टर से आश्रम के संयुक्त-भवन का नक्शा बनवाकर भेज दिया। ११ नवम्बर, १९८८, कार्तिक शुक्ल द्वितीया, शुक्रवार को स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने आश्रम के प्राचीर का शिलान्यास किया, जिसमें स्वामी चन्द्रानन्दजी महाराज, श्री आभास चटर्जी, राय मनेन्द्र प्रसाद, जिले के अनेकों पदाधिकारी एवं स्थानीय लोग उपस्थित थे। १८ अप्रैल, १९८९ चैत्र-शुक्ल, तृतीया, भगवान महावीर के पावन जन्म-दिन को स्वामी वेदान्तानन्द जी महाराज ने छपरा के आश्रम-भवन का शिलान्यास किया तथा २० मई, १९८९ वैशाख-पूर्णिमा, भगवान बुद्ध के अवतरण-बोधिसत्व-प्राप्ति एवं निर्वाण दिवस के पुण्य दिन से आश्रम निर्माण का कार्य श्रीराय मनेन्द्र प्रसाद जी की देख-रेख में प्रारम्भ हो गया। आश्रम के निर्माण में पूज्य स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने कई भक्तों को प्रेरित कर लगभग आठ लाख रूपये का दान दिलवाया – जिसमें जी. पी. बिरला ने ४ लाख ७५ हजार, डॉ. ताराचन्द अग्रवाल, दिल्ली ने ७० हजार, श्रीमती वीरा देवी ट्रस्ट, हैदराबाद ने ३० हजार, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई ने २५ हजार, श्री सिंगतम्बी महालिंगम्, आस्ट्रेलिया ने १ लाख १० हजार ५८० और संगीत बिहार, दिल्ली ने १० हजार रुपये प्रदान किये। इसके अतिरिक्त भी स्वामी आत्मानन्द जी, स्वामी शुद्धव्रतानन्द जी, स्वामी निखिलात्मानन्द जी और स्वामी बुधेशानन्द जी की प्रेरणा से लोगों ने दान दिया तथा स्थानीय भक्तों, हितैषियों के सत्प्रयास से चन्दा एकत्र किया गया।

तब तक आश्रम श्री केदारनाथ लाभ के घर में स्थानान्तरित हो गया तथा नियमित पूजा-अर्चना शुरु हो गयी।

बहुत बिघ्न-बाधाओं के दौर से गुजरते हुये ईश्वर की परम कृपा तथा अनेकों भक्तों एवं शुभचिन्तकों की सहायता एवं उद्यम से आश्रम का निर्माण-कार्य सम्पन्न हुआ तथा ११ अप्रैल, १९९२ चैत्र रामनवमी के परम पावन मंगलमय दिवस को रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के परम उपाध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज के कर-कमलों द्वारा इसका उद्घाटन सम्पन्न हुआ। उसके बाद से इस आश्रम में रामकृष्ण संघ के अनेकों वरीष्ठ संन्यासियों का आगमन होता रहा, जिनमें परम पूज्य स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज, स्वामी चन्द्रानन्दजी महाराज, स्वामी सुहितानन्दजी, स्वामी स्मरणानन्द जी, स्वामी गौतमानन्दजी, स्वामी सत्यरूपानन्दजी, स्वामी निखिलात्मानन्दजी, स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी, स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी, स्वामी नित्यज्ञानन्दजी, स्वामी मुनीश्वरानन्दजी, स्वामी मंगलानन्दजी, स्वामी एकदेवानन्दजी, स्वामी मेघानन्दजी आदि प्रमुख हैं। रामकृष्ण संघ के तत्कालीन उपाध्यक्ष पूज्य स्वामी गहनानन्द जी महाराज ने जिज्ञासु भक्तों को दीक्षा भी दी।

एक लम्बी अवधि बीत जाने के बाद चैत्र रामनवमी, ११ अप्रैल, २००३ को रामकृष्ण मिशन ने इस केन्द्र का

अधिग्रहण किया। इसका त्रिदिवसीय अधिग्रहण-समारोह ११ से १३ अप्रैल, २००३ को सम्पन्न हुआ, जिसमें स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज, स्वामी सुहितानन्दजी महाराज, स्वामी निखिलात्मानन्दजी महाराज के प्रवचन हुये और भारत के विभिन्न भागों से आये अनेकों भक्तों ने भाग लिया। स्वामी दिव्यव्रतानन्द जी के भजनों का भी भक्तों ने आनन्द लिया।

इस आश्रम के प्रथम एवं नव-नियुक्त सचिव स्वामी समर्पणानन्द जी के आने से भक्तों की आकांक्षायें एवं आश्रम-विस्तार की सम्भावनायें बढ़ गयीं। उन्होंने कुछ योजनाओं को मूर्त रूप दिया, जो अब तक संचालित हो रही हैं।

उनके बाद द्वितीय सचिव का प्रभार कर्मठ एवं युवा संन्यासी स्वामी मुनीश्वरानन्द जी महाराज ने लिया। रामकृष्ण मिशन में विलय के पहले भी उन्होंने छपरा-आश्रम की विभिन्न प्रकार से सहायता की थी। सचिव का प्रभार मिलने के बाद उन्होंने इस आश्रम की गतिविधियों का विस्तार किया एवं इसे एक सुन्दर आश्रम का स्वरूप देना आरम्भ किया। बहुत ही कम समय में आश्रम में बहुत से विभागों का विस्तार एवं भवन-निर्माण हुये। वर्तमान में आश्रम द्वारा संचालित उल्लेखनीय विभाग हैं –

१. आश्रम-परिसर में नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा – इसमें आसपास के गरीब बच्चों को नि:शुल्क भोजन, दूध, स्कूल ड्रेस और शिक्षा आदि दिये जाते हैं।

२. अनौपचारिक शिक्षा – हाल ही में आश्रम ने छपरा जिले के चार गाँवों – डुमरी, लाल बाजार, गौतम स्थान और कोरबरवा में बस्ती के गरीब बच्चों को नि:शुल्क शिक्षा देने के लिये नि:शुल्क अनौपचारिक विद्यालय, 'लाटू महाराज पाठशाला' प्रारम्भ किया है।

३. नि:शुल्क चिकित्सालय – बीमार लोगों की सेवा के लिये आश्रम-परिसर में एक डाइगनोस्टिक सुविधायुक्त औषधालय है, जिसका उद्घाटन रामकृष्ण संघ के महासचिव स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज ने २००६ में किया। इसमें रोगियों की चिकित्सा, डाइग्नोसिस और दवायें भी नि:शुल्क दी जाती हैं। वर्तमान में इसमें मेडिसीन विभाग, नेत्र विभाग, दन्त विभाग, पैथालोजीकल-टेस्ट आदि कई विभाग हैं तथा अनेकों रोगों का निदान शहर के विभिन्न विख्यात् चिकित्सकों द्वारा नि:शुल्क किया जाता है, जिसके अलग-अलग अनेकों विभाग हैं। एक होमियोपैथ विभाग भी है, जिसमें सभी रोगों का निदान राजधानी के विख्यात होमियो चिकित्सक द्वारा किया जाता है तथा रोगियों को नि:शुल्क दवायें भी दी जाती हैं।

४. सचल चिकित्सालय – आश्रम का सचल चिकित्सालय का वाहन सप्ताह में दो बार कुछ गाँवों में गरीबों की सेवा के लिये जाता है। उन्हें नि:शुल्क चिकित्सा एवं दवायें दी जाती हैं तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारियाँ दी जाती हैं।

५. ग्रन्थालय – आश्रम-प्रांगण में विद्यार्थियों के पाठ्य पुस्तकों सहित जनता के लिये अन्य सांस्कृतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पुस्तकें हैं।

६. नि:शुल्क शिक्षण-केन्द्र – आश्रम ने वर्ग ८ से १० तक के गरीब विद्यार्थियों के लिये नि:शुल्क शिक्षण-केन्द्र प्रारम्भ किया है।

७. व्यक्तित्व विकास विभाग – प्रत्येक रविवार को १५ से ३० वर्ष तक के युवकों के सर्वांगीण व्यक्तित्व-विकास हेतु कक्षायें ली जाती हैं।

८. सारदा संघ – समाज की पिछड़ी एवं अशिक्षित महिलाओं के विकास एवं वैदिक ऋषिकाओं की तरह प्रशिक्षित करने हेतु आश्रम परिसर में सारदा संघ संचालित होता है। इसमें महिलायें ही पढ़ाने, मशीन से सिलाई सिखाने तथा आश्रम परिसर की सफाई में भी योगदान देती हैं।

८. राहत-कार्य – आश्रम प्रत्येक जाड़े में गाँवों के गरीब लोगों को कम्बल और अन्य वस्त्रों को प्रदान करता है। पिछले दो वर्षों से बाढ़ से प्रभावित गाँवों में स्वयंसेवकों की सहायता से बाढ़-राहत-कार्य भी किया गया तथा चार गरीब परिवारों को उनकी जीविका हेतु रिक्शा भी दिया गया।

९. आध्यात्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम – समाज में आध्यात्मिक जागृति हेतु आश्रम परिसर और दूर के गाँवों में भी श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द की आविर्भाव तिथियाँ व्यापक रूप से मनाई जाती हैं, जिनमें संघ के संन्यासियों एवं अन्य विद्वानों के व्याख्यान आदि विभिन्न कार्यक्रम आयोजित होते हैं। भक्तों के भक्तिवर्धन हेतु आध्यात्मिक शिविर का आयोजन भी होता है। इसके अतिरिक्त रामनवमी, श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, श्रीदुर्गा-पूजा, और श्रीकाली-पूजा का भी आयोजन होता है। राष्ट्रीय युवा दिवस में शहर के युवकों की पर्याप्त मात्रा में भागीदारी होती है। वे आश्रम द्वारा आयोजित प्रतियोगिताओं एवं सेवा-कार्यों में सोत्साह भाग लेते हैं।

इस प्रकार रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा अल्प समय में ही विस्तृत रूप से नर-नारायण के सर्वांगीण विकास में यथासाध्य प्रयासरत है। वहाँ युवा सन्तों का अच्छा दल है। सहयोगी भक्त-समुदाय एवं बुद्धिजीवि नागरिक हैं। अत: एक सत्-चरित्र, नैतिक एवं आध्यात्मिक समाज के निर्माण हेतु वहाँ की जनता की आश्रम से बहुत कुछ अपेक्षायें हैं तथा वहाँ सेवा-प्रकल्प की बहुत सम्भावना भी है।

सम्पर्क सूत्र –

सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम
लाटू महाराज पथ, सर्किट हाउस के सामने,
छपरा – ८४१ ३०१ (बिहार)
फोन – ०६१५२-२२०७३९

राज्य किसका है?

नरेन्द्र कोहली

उस सारी आपाधापी में बड़ी कठिनाई से वसुदेव और देवकी को कृष्ण से एकान्त में बात करने का अवसर मिला था। दोष भी किसको देते, जब से कृष्ण तथा बलराम मथुरा आए थे, घटनाओं का ऐसा अंधड़ चला था कि अपने घर के भीतर भी एकान्त का मिलना कठिन हो गया था। वसुदेव की सारी पत्नियाँ मथुरा लौट आई थीं। पुत्र भी आ गए थे। सबको ही कुछ प्राप्त करने की तृष्णा थी। कुछ मिल जाने की आशा थी। वैसे भी वे सब लोग एक लम्बे समय के पश्चात् घर लौटे थे; और वह भी घर-वापसी की सारी आशाएँ समाप्त हो जाने के पश्चात्। बहुत वंचित रहे थे सब लोग। अब अकस्मात् ही जैसे अद्भुत भाग्योदय का आभास होने लगा था। उत्सव का सा परिवेश तो होना ही था। ... और वैसे भी मथुरा में ऐसा कौन था, जिसे कृष्ण से कोई काम नहीं था, जिसे कृष्ण का सामीप्य नहीं चाहिए था!

अब देवकी समझ रही थीं कि कृष्ण के वृन्दावन में रहते, जो समाचार वहाँ से आ रहे थे, उनका क्या अर्थ था। कृष्ण केवल एक शिशु, बालक, किशोर या तरुण नहीं, साकार पुंजीभूत आकर्षण था। उससे मिलने के लिए, जिस प्रकार आत्मा तड़पती थी, उसका वे प्रत्यक्ष अनुभव कर रही थीं। वस्त्र ही नहीं, शरीर को भी परे फेंक, आत्मा तो कृष्ण का आलिंगन करने के लिए खिंचती चली जाती थी। उस दुर्वार आकर्षण का प्रतिकार मनुष्य के लिए तो सम्भव था ही नहीं। वह कदाचित् यह दिखाने के लिए ही धरती पर आया था कि दिव्य सौन्दर्य कैसा होता है, प्रभु की निकटता का आनन्द कैसा होता है! ...

बलराम में चाहे वैसा आकर्षण न हो; पर देवकी को वे कम प्रिय नहीं थे। देवकी के मन में अपने दोनों ही पुत्रों से मिलने का अति उत्साह था; किन्तु यह तो उन्होंने घर में प्रवेश करते ही देख लिया था कि अपनी सारी सद्भावनाओं के होते हुए भी बलराम के सन्दर्भ में रोहिणी न केवल अति स्वत्वाग्रही थीं, उतनी ही आशंकित भी थीं। किसी प्रकार का कोई समझौता करना कदाचित् उनके लिए सम्भव ही नहीं था। हाँ, कृष्ण को एक प्रकार से उन्होंने मुक्त ही रखा था। वृन्दावन में भी तो वह उनका नहीं, यशोदा का पुत्र था।

इस समय उस नाव में वे तीनों ही थे। कृष्ण ही उन्हें यमुना में नौका-विहार के बहाने घर से निकाल लाए थे।

वसुदेव की अपनी चिन्ताओं का कोई अन्त नहीं था; किन्तु इस समय वे केवल कृष्ण से मिलना चाहते थे।

''मुझे बताओ कृष्ण!' वसुदेव बोले, ''क्या ब्रह्म मनुष्य के रूप में इस धरती पर आता है? आ सकता है?''

''पिता जी? आपका यह पुत्र वृन्दावन में गउवों और गोपों के साथ पला है। कभी किसी गुरु के पास नहीं गया, किसी प्रकार की कोई शिक्षा नहीं पाई ...।''

''जानता हूँ।'' वसुदेव बोले, ''मेरा वास्तविक प्रश्न तो यह था कि हमारी पीड़ा ने तुम्हें आने को बाध्य किया है, अथवा तुम्हें आना ही था?''

''आप मुझे अपना एक गोपाल पुत्र ही क्यों नहीं समझ लेते? न हो तो वृन्दावन का एक चरवाहा ही मान लें।''

''समझ लेता, यदि तुम गोकुल और वृन्दावन में वह सब न करते, जो तुमने किया। कंस का वध करने न आते, उस के भय से अपने माता-पिता को कारागार में छोड़कर कहीं, किसी अज्ञात स्थान में भाग जाते, कहीं विलुप्त हो जाते।...''

''वह सब ठीक है, किन्तु आप मुझे अपना पुत्र ही समझें...। मैं वसुदेव का पुत्र वासुदेव ही हूँ।''

''वही समझ रहा हूँ – वासुदेव! फिर भी जगत् और जीवन की चर्चा तो हम कर ही सकते हैं।''

''हाँ, कर तो सकते हैं।''

''तो बताओ, ब्रह्म कभी मानव-शरीर धारण कर धरती पर आ सकता है?''

''योगमाया ने, या कहिए ब्रह्म की कारयित्री शक्ति ने, त्रिगुणात्मिका प्रकृति ने, सृष्टि के लिए ऋत का नियम बनाया है।'' कृष्ण का रूप कुछ और दिव्य हो आया था, ''सृष्टि उस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकती। उस नियम के अन्तर्गत त्रिगुणात्मक प्रकृति अनेक लीलाएँ करती है, किन्तु शासन तो ऋत का ही है।...''

'सत्य का नहीं?'' देवकी ने पूछा।

''नियम के धरातल पर जो ऋत् है माँ! वाणी के धरातल पर वही सत्य है; और आचरण के धरातल पर वही धर्म है। इसीलिए कहा गया है – सत्यमेव जयते। इसीलिए कहा गया कि जहाँ धर्म है, वहीं जय है; क्योंकि नियम तो ऋत का ही है। उसके विरुद्ध जाकर कोई कुछ नहीं कर सकता। अत: यदि कभी कोई ऐसी स्थिति आ जाए कि धर्म का पक्ष निर्बल हो जाए, तमोन्मुख रजोगुण बढ़ जाए और मनुष्य का सारा पुरुषार्थ व्यर्थ होता दिखे, तो ऋत को हस्तक्षेप करना पड़ता है। उसे स्वयं सत्य और धर्म के रूप में धरती पर उतरना पड़ता है; क्योंकि अधर्म इस सृष्टि का पालन नहीं कर सकता और शासन तो ऋत का ही है।''

''तो इसलिए तुम आए!'' देवकी ने कहा।''

''नहीं माँ!'' कृष्ण बोले, ''बात मेरे आने की नहीं है। हम एक सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हैं।''

''यह है ब्रह्म के मनुष्य बनने की चर्चा।'' वसुदेव बोले, ''पर मनुष्य भी ब्रह्म बन सकता है क्या?''

''हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ भलीभाँति खुल जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य इस शरीर में ही अमर हो जाता है।'' कृष्ण बोले, ''ऋषि ने कहा है न – **यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्यो अमृतो भवति एतावत् हि अनुशासनम्।**

''किन्तु मनुष्य उसे पाता कब है?'' वसुदेव ने पूछा।

''जब दृढ़ निश्चय हो जाता है कि परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं; और वे निश्चय ही मिलते हैं। तब वह इस शरीर में रहते हुए ही परमात्मा का साक्षात् कर, अमर हो जाता है। जब साधक के हृदय से सारी कामनाएँ तिरोहित हो जाती हैं, तब वह सदा का मरणधर्मा भी अमर हो जाता है।'' कृष्ण बोले।

''तुम मुझे बताओ पुत्र!'' सहसा देवकी ने विषय बदल दिया, ''तुम्हारे पिता ने मथुरा का राज्य त्यागकर अच्छा किया क्या? क्या यह सिंहासन तुम्हें नहीं मिलना चाहिए था? या ये स्वयं भी तो इस सिंहासन को स्वीकार कर सकते थे। हम पहले भी पराधीन थे; अब हम पुनः पराधीन नहीं हो गए क्या?''

''राज्य तो इस संसार में लाखों मनुष्यों ने किया है, माँ! और आगे भी करते रहेंगे'' – कृष्ण के अधरों पर एक मधुर मुस्कान आ विराजी, ''किन्तु कृष्ण को आज तक कितनी माताओं ने जन्म दिया है? और माँ! पिताजी सिंहासन पर बैठ जाते, तो उनके पुत्रों में से किस-किस के मन में युवराज बनने की इच्छा जागती, इस विषय में भी आपको विचार करना चाहिए। यह तो आपने देख ही लिया है कि राज्य की इच्छा मनुष्य को कंस बना देती है। आप चाहेंगी कि आपके पुत्रों में से किसी को कंस बनने का प्रलोभन प्राप्त हो।''

''राज्य के लिए, क्या तुम्हारे भी सन्दर्भ में कंस बनने की सम्भावना है?'' देवकी ने पूछा।

''मेरे पास बहुत सारे काम हैं माँ! मैं मथुरा तो क्या, कहीं के सिंहासन के साथ स्वयं को बाँध नहीं सकता।'' कृष्ण हँसे, ''अच्छा यह बताइए कि एक व्यक्ति के पास एक नौलखा हार हो और दस्यु उसे छीन लें। फिर राजपुरुष उस दस्यु को मारकर हार वापस ले आएँ, तो हार किसका है?''

''हार के स्वामी का।'' देवकी ने तत्काल उत्तर दिया, ''इसमें सोचना क्या है?''

''वह व्यक्ति तात उग्रसेन हैं। मथुरा का राज्य, नौलखा हार है। कंस दस्यु है। मैं वह राजपुरुष हूँ, जिसने दस्यु को मारा है, तो राज्य मेरा कैसे हो गया? वह उसके स्वामी मातामह महाराज उग्रसेन का क्यों नहीं है?''

देवकी ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया।

''राज्य किसका है माँ?''

''राज्य तो तात उग्रसेन का ही है।'' अन्ततः वे बोलीं।

''वस्तुतः राज्य तो प्रजा का ही है, राजा तो केवल अपने राज-धर्म का पालन करता है।'' कृष्ण बोले, ''पिता जी! सिंहासन पर कोई बैठे, किन्तु हम राजनीति से उदासीन नहीं हो सकते।''

''पुत्र! राजनीति से न तो हम विमुख हैं, और न हो सकते हैं।'' वसुदेव बोले, ''मैं देख पा रह हूँ कि राजगृह में कैसी हलचल हो रही होगी। घर-घर में शस्त्रों का निर्माण हो रहा होगा और सेनाएँ शस्त्र-सज्जित हो रही होंगी। संसार के सारे पशु-हाटों में से वे अश्व और गज का क्रय कर रहे होंगे, युद्ध के लिए प्रस्थान की तैयारी कर रहे होंगे; और हमारी मथुरा में केवल एक ही चर्चा है कि सिंहासन पर कौन बैठे और क्यों बैठे!''

''यही तो अन्तर है, उनमें और हम में।'' कृष्ण बोले, ''उनकी दृष्टि राज्य के विस्तार पर है, चाहे वह जैसे भी हो। धर्म से, अधर्म से, न्याय से अन्याय से, जीत कर, छीन कर, माँग कर, कैसे भी हो – राज्य का विस्तार होना चाहिए, उनके सिवाय और कोई राजा न हो, किसी के पास राजसत्ता न हो। यह राक्षसी चिन्तन है, पिताजी! और हमारा उनसे ही सामना है। इसलिए हमें सिंहासन हथियाने का उपक्रम नहीं करना है, दुष्ट-दलन की तैयारी करनी है। मानवता को उसका अधिकार दिलाना है। धर्म की स्थापना करनी है। हमें स्वयं को धर्म का सैनिक बनाना है। धर्म छूटते ही मनुष्य राक्षस हो जाता है; और यदि उसकी संघर्ष की प्रवृत्ति छूट जाए, तो वह दास हो जाता है। मथुरावासी अपने कृत्यों से कंस के दास हो गए थे। यह तो आप दोनों का संघर्ष ही था, जिसके पुण्य से मथुरा कंस से मुक्त हुई है।''

वसुदेव हँस पड़े।

''क्या हुआ पिताजी।''

''एक घटना स्मरण हो आई है पुत्र!'' वसुदेव बोले, ''तुम्हारे सबसे बड़े भाई कीर्तिमान का जन्म होने वाला था। हम उसके जीवन को बचाने के लिए छटपटा रहे थे। उसी प्रयत्न में गर्गाचार्य के आश्रम में पहुँचा था। जब उन्होंने भी एक प्रकार से हताश कर दिया तो मैंने उनसे पूछा था कि क्या मैं भी कंस हो जाऊँ? चला जाऊँ उसी के पाले में? तो वे हँस पड़े थे।'' – क्यों?''

''उन्होंने कहा था, कि इस समस्या का समाधान अब प्रभु ने अपने हाथ में ले लिया है। मैं चाहूँ भी तो न मर सकता हूँ, न कंस बन सकता हूँ, न कंस के पक्ष में खड़ा हो सकता हूँ। मेरे लिए संघर्ष के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था; क्योंकि मेरे माध्यम से संघर्ष तो वह स्वयं ही कर रहा है। तो इस संघर्ष का श्रेय मैं स्वयं कैसे ले सकता हूँ।''

कृष्ण मुस्कराए; किन्तु कुछ बोले नहीं। देवकी पिता-पुत्र को देखती रह गईं।

(शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास 'वसुदेव' का एक अंश)

बेलगाम में भाटे-भवन का अधिग्रहण

१८९२ ई. के अक्टूबर माह में स्वामी विवेकानन्द बेलगाम (कर्नाटक) पधारे थे। वहाँ उन्होंने तीन दिनों तक श्री भाटे के घर में निवास किया था। बड़े आनन्द की बात है कि वह भवन अब रामकृष्ण मिशन के संरक्षण में आ गया है। यह अब तक 'रामकृष्ण-विवेकानन्द-सेवाश्रम' नामक संस्था के अधीन था, जिसने पूरे भवन को रामकृष्ण मिशन के नाम हस्तान्तरित कर दिया है। ३ फरवरी, २००७ को इसके अधिग्रहण का समारोह आयोजित किया गया था, जिसमें रामकृष्ण मिशन के अनेक संन्यासी तथा सेवाश्रम के विकास तथा गतिविधियों से जुड़े गणमान्य लोग और बड़ी संख्या में भक्तगण उपस्थित थे।

यह भवन रामकृष्ण मिशन आश्रम, फोर्ट, बेलगाम, का नागरी-केन्द्र होगा। इसका उपयोग स्वामीजी के एक स्मारक तथा मिशन की भावी गतिविधियों के लिये होगा। यहाँ रहते समय स्वामीजी ने जिस टहलने की छड़ी, खाट, चटाई, दर्पण आदि का उपयोग किया था, उन्हें इसमें सुरक्षित रखकर प्रदर्शित किया गया है।

स्वामीजी के निवास से धन्य भाटे-भवन

अल्सूर (कर्नाटक) में नये चिकित्सालय का उद्घाटन

रामकृष्ण मठ, अल्सूर में रामकृष्ण संघ के वरीष्ठ उपाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने १ अप्रैल, २००७ को नवनिर्मित दातव्य चिकित्सालय का उद्घाटन किया। वहाँ श्रीरामकृष्णदेव की विशेष पूजा-होम की गयी, जिसमें लगभग ९०० भक्तों तथा ४५ सन्तों ने भाग लिया। इस कार्यक्रम के एक अंग के रूप में करीब २०० गरीबों को सुस्वादु भोजन कराया गया।

अल्सूर और बैंगलोर के आसपास के क्षेत्रों में बहुत-सी मलिन बस्तियाँ तथा झुग्गी-झोपड़ियाँ है। इन निर्धन लोगों के पास इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वे व्यावसायिक दवाखानों या चिकित्सालयों में जाकर अपनी चिकित्सा करा सकें। आश्रम-परिसर में आयोजित अपने पाक्षिक नेत्र-शिविर के दौरान जनसाधारण के लिये एक दातव्य चिकित्सालय की आवश्यकता का बोध किया गया था। उसके बाद प्रयोग के रूप में आश्रम-परिसर में ही छोटा-सा चिकित्सालय आरम्भ किया गया, जिसमें हफ्ते में दो बार चिकित्सकीय परामर्श और दवाएँ निःशुल्क दी जाती थीं। २००२-०३ ई. में इसमें आनेवाले रोगियों की संख्या ४७५९ थी, जो २००६-०७ में बढ़कर ६१३१ हो गयी। रोगियों की बढ़ती संख्या को व्यवस्थित करने के लिये जगह का अभाव महसूस होने लगा और आश्रम के शान्तिमय परिवेश में भी खलल पड़ने लगी। अतः चिकित्सालय को विशेष सुविधाओं के साथ उसके अपने नये परिसर में स्थानान्तरित करने का निर्णय लिया गया। इस नये चिकित्सालय का उद्घाटन ही पूर्वोक्त तिथि को किया गया। भविष्य में आनेवाली आर्थिक सहायता के आधार पर कई योजनाएँ बनाई गयी हैं, यथा चिकित्सालय के विविध विभागों के लिये भवन, भोजन की व्यवस्था, डायग्नोस्टिक सेंटर, फिजियोथेरेपी युनिट और निःशुल्क नेत्र-शिविर आयोजन हेतु स्थान। उसी भवन में निर्धन बच्चों के लिये कोचिंग सेंटर और कॉलेज के युवा विद्यार्थियों हेतु योग-प्रशिक्षण तथा व्यक्तित्व विकास की कक्षायें आदि आरम्भ करने की भी योजना है।

श्रीरामकृष्ण की कृपा और व्यक्तियों तथा संस्थाओं के उदारतापूर्वक दान से यह सब कुछ हो पाना सम्भव है। स्वामी विवेकानन्द को सर्वाधिक प्रिय – दरिद्र-नारायणों की इस सेवा में सक्रिय सहयोग करने हेतु हम आप सबको हार्दिक निमंत्रण देते हैं।

रायपुर में स्वामी विवेकानन्द की जन्मतिथि राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में मनायी गयी

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, तथा पं. रविशंकर विश्व-विद्यालय, रायपुर के राष्ट्रीय सेवा योजना के संयुक्त तत्त्वावधान में

विश्वविद्यालय परिसर में विगत १२ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द की जन्मतिथि मनायी गयी, जिसमें राष्ट्रीय सेवा योजना की शहरी इकाइयों ने भी भाग लिया। इसमें अनेकों प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओं ने ओजस्वी व्याख्यान दिये। सभा की अध्यक्षता विश्व-विद्यालय के कुलपति डॉ. लक्ष्मण प्रसाद चतुर्वेदी ने की। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि तथा विश्वविद्यालय के कुलाधिसचिव डॉ. ओम प्रकाश वर्मा मुख्य वक्ता थे।

स्वामी विवेकानन्द सरोवर, रायपुर – छत्तीसगढ़ के माननीय मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह जी ने प्रातः विवेकानन्द सरोवर के नीलाभ उद्यान में अवस्थित स्वामी विवेकानन्द जी की विश्वविख्यात् ध्यानमूर्ति पर माल्यार्पण किया तथा उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। इस अवसर पर माननीय मुख्यमंत्री ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द एक महान् चिन्तक और समाज के मार्गदर्शक थे।''

पर्यटन और संस्कृति मंत्री श्री बृजमोहन अग्रवाल ने इस उद्यान के सौन्दर्यीकरण के लिये पर्यटन मण्डल द्वारा तैयार कार्ययोजना की जानकारी मुख्यमंत्री जी को दी। अनेक मंत्रियों, अधिकारियों तथा गणमान्य नागरिकों ने इस कार्यक्रम में भाग लेकर स्वामीजी को श्रद्धांजलि अर्पित की, जिसमें प्रमुख थे – राज्य युवा आयोग के अध्यक्ष रणविजय सिंह जुदेव, महापौर सुनील सोनी, रायपुर विकास प्राधिकरण के अध्यक्ष श्याम बैस, नगरनिगम के सभापति रतन डागा तथा नेताप्रतिपक्ष कुलदीप जुनेजा, पूर्व महापौर तरुण चैटर्जी और पूर्व मंत्री लक्ष्मीनारायण इंदूरिया आदि।

इस विवेकानन्द-सरोवर के परिसर में स्वामीजी की जीवन-गाथा पर आधारित ध्वनि और प्रकाश के माध्यम से आकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत किये जायेंगे। उद्यान में सौ फुट ऊँचा संगीतमय फव्वारा और चालीस फुट चौड़ा एक वाटर-स्क्रीन भी बनेगा। इसके अलावा शासकीय कन्या महाविद्यालय परिसर की दीवार से जुड़ी एक दर्शक दीर्घा भी बनेगी, जहाँ बैठकर लोग स्वामी विवेकानन्द की प्रतिमा और उद्यान के सौन्दर्य को निहार सकेंगे।

१४५ दीप जलाये गये – भारतीय जनता युवा मोर्चा ने स्वामी विवेकानन्द जी की १४५वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में उनकी प्रतिमा के समक्ष १४५ दीप प्रज्वलित किया। इस अवसर पर जिला भाजपा अध्यक्ष श्री राजीव अग्रवाल ने कहा – ''युवा स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो के महासम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करके भारत को जो गौरव दिलाया, वह सदियों तक युवाओं के लिये एक प्रकाशपुंज की भाँति प्रकाश तथा प्रेरणा देता रहेगा। स्वामीजी युवाओं के लिये प्रेरणा-स्रोत हैं और उनकी जयन्ती को हर वर्ष 'युवा-शक्ति दिवस' के रूप में मनाया जायेगा।''

भिलाई में स्वामी विवेकानन्द की मूर्ति का अनावरण – साईं महाविद्यालय, सेक्टर ६, भिलाई में स्वामी विवेकानन्द जयन्ती के शुभ अवसर पर विधान-सभा के अध्यक्ष श्री प्रेम प्रकाश पाण्डेय ने स्वामीजी की १० फीट ऊँची मूर्ति का अनावरण किया। इस अवसर पर अपने उद्गार प्रकट करते हुये श्री पाण्डेय ने कहा – ''यह पहला अवसर है जब मैं पं. रविशंकर विश्वविद्यालय के बाद किसी शिक्षण संस्थान में स्वामी विवेकानन्द जी मूर्ति देख रहा हूँ और यह प्रयास सराहनीय है।'' इस सभा के विशिष्ट अतिथि भिलाई लौह संयंत्र के जेनरल मैनेजर श्री के.के. सिंहल ने कहा – ''केवल स्वामी विवेकानन्द जी का नाम ही युवाओं में नयी सकारात्मक सोच उत्पन्न करता है। स्वामीजी ही मेरे आदर्श हैं।'' इस अवसर पर श्री पाण्डेय ने मूर्तिकार श्री जे. एम. नेल्सन को शाल, नारियल और स्मृति-चिह्न प्रदान करके सम्मानित किया। कॉलेज-कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष श्री जी.एस सचदेव ने स्वागत-भाषण, हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री अंजन कुमार ने सभा का संचालन और कॉलेज के निदेशक हरमीत सिंह ने धन्यवाद ज्ञापन किया। इस कार्यक्रम में भाजपा अध्यक्ष रामाश्रय दूबे, अनिल मिश्रा, कारपोरेशन के क्षेत्रीय अध्यक्ष भागचन्द जैन, कारपोरेटर सौरभ दत्त आदि भी उपस्थित थे।

मदुरै (तमिलनाडु) में राष्ट्रीय युवा दिवस

मदुरै (तमिलनाडु) के रामकृष्ण मठ में 'राष्ट्रीय युवा दिवस' बड़े ही व्यापक रूप से मनाया गया। स्कूल-कॉलेज के छात्र-छात्राओं के लिये स्वामी विवेकानन्द विषय पर निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। इस प्रतियोगिता में ७५ विद्यालयों और १४ कॉलेजों के १२,१०० छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। इस मठ में पहली बार इतने विशाल स्तर पर यह कार्यक्रम आयोजित हुआ।

सभी प्रतिभागी छात्र-छात्राओं को स्वामीजी के उपदेशों पर आधारित पुस्तकें - अंग्रेजी में हीज कॉल टू द नेशन ('विवेकानन्द का राष्ट्र को आह्वान) और तमिल में युवाओं के लिये स्वामी विवेकानन्द जी के प्रेरणात्मक उपदेशों का एक संग्रह – 'वीरा ललैजनारुक्कु' उपहार स्वरूप दी गयीं। इस प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले सभी १२,१०० छात्र/छात्राओं को बहुरंगी प्रमाण-पत्र (मल्टी-कलर पार्टिसिपेशन सर्टिफिकेट) दिये गये। जिन ८९ विद्यालयों और महाविद्यालयों ने इस कार्यक्रम में भाग लिया था, उन सभी को (५९ को तमिल और ३० को अँग्रेजी में) स्वामी विवेकानन्द की सम्पूर्ण ग्रन्थावली प्रदान की गयी।

१२ जनवरी, २००७ को हमारे विद्यालय के नवनिर्मित प्रार्थना भवन में राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया। ७५० छात्र-छात्राओं एवं शिक्षकों ने इस कार्यक्रम में भाग लिया। छात्रों ने स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में देश की सेवा करने की प्रतिज्ञा की। ५ गणमान्य महानुभावों ने छात्रों को सम्बोधित किया। स्वामी कमलात्मानन्दजी ने अध्यक्षीय भाषण दिया। कॉलेज के दो छात्रों ने भी व्याख्यान दिये तथा १०५० लोगों ने प्रसाद ग्रहण किया।

श्रीरामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक

जिला - अनूपपुर (म.प्र.) - 484886 दूरभाष - (07629) 269410

श्री श्री रामकृष्ण देवो विजयते

सादर निवेदन

आत्मीय भक्तजन,

पुण्य सलिला माँ नर्मदा का उद्‌गम स्थल अमरकंटक एक तपोभूमि है। सदाबहार साल वृक्षों से आच्छादित विन्ध्याचल के मेकल पर्वत श्रेणी पर स्थित यह स्थान सदियों से ऋषियों, मुनियों एवं साधु-सन्तों की तपस्थली रही है। रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित होकर 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' के महान् उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये इस रामकृष्ण कुटीर की स्थापना ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज के द्वारा की गई। परिसर स्थित मन्दिर की प्रतिष्ठा रामकृष्ण मठ और मिशन के पूर्व परमाध्यक्ष पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के कर कमलों के द्वारा की गई। इस आश्रम द्वारा विगत २७ वर्षों से इस क्षेत्र के गरीब आदिवासी लोगों की सहायता हेतु अनेक गतिविधियों का संचालन कर विविध सेवा कार्य किये जा रहे हैं।

माँ नर्मदा के तट के समीप स्थित आश्रम परिसर लगभग चार एकड़ भूमि पर फैला है तथा सुन्दर पुष्प, फल, वृक्ष आदि से युक्त है। यह आश्रम साधकों हेतु साधना और तपस्या के लिए सुन्दर वातावरण प्रदान करता है। आश्रम के पास उपलब्ध जमीन पर साधकों की आवश्यकतानुसार बारह साधना-कुटी के निर्माण की योजना है, जिसकी विस्तृत जानकारी के लिये इच्छुक व्यक्ति सम्पर्क कर सकते हैं। उसी प्रकार आश्रम के विविध परोपकारी गतिविधियों जैसे – पुस्तकालय, वाचनालय, रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य बिक्री केन्द्र, साधना-शिविर, होमियोपैथी औषधालय, योग-प्रशिक्षण केन्द्र आदि के समुचित संचालन के लिए वर्तमान में हमारी जरूरतें निम्नानुसार हैं -

क्र.	लागत	क्र.	लागत
1. कार्यालय एवं पुस्तक विक्रय केन्द्र भवन	रु. 5 लाख	4. छात्रों को पढ़ाने हेतु (कोचिंग) भवन	रु. 3 लाख
2. पुस्तकालय एवं वाचनालय भवन	रु. 6 लाख	5. सत्संग भवन	रु. 16 लाख
3. होमियोपैथी चिकित्सालय भवन	रु. 2 लाख	6. साधना कुटी (12 कुटी के लिए)	रु. 48 लाख

कुल - रु. 80 लाख

आप सभी भक्तजनों से हार्दिक अनुरोध है कि आश्रम द्वारा संचालित सेवा कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये उपरोक्त प्रयोजन हेतु उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें। श्री ठाकुर, श्री माँ, श्री स्वामीजी तथा माँ नर्मदा के चरणों में आप लोगों की मंगल-कामना हेतु प्रार्थना करता हूँ।

श्री श्री माँ के चरणों में

आपका,

स्वामी विश्वात्मानन्द

सचिव

नोट - इस आश्रम को दिये गये दान आयकर की धारा (80-जी) के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। ड्राफ्ट/चेक सचिव, श्री रामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक के नाम भेजें।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, सारगाछी

(रामकृष्ण मिशन का प्रथम सेवा-केन्द्र)

पो. सारगाछी आश्रम, जिला मुर्शिदाबाद 742 134

दूरभाष - (03482) 232222 फैक्स - (03482) 232300

एक आवेदन

१५ मई १८९७ ई. को स्थापित होनेवाले रामकृष्ण मिशन आश्रम, सारगाछी को रामकृष्ण मिशन का प्रथम शाखा-केन्द्र होने का दुर्लभ गौरव का अधिकारी हुआ है। श्रीरामकृष्ण के एक संन्यासी शिष्य स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ने महुला ग्राम के चण्डी-मण्डप में अकाल से पीड़ित लोगों को अपने हाथ से चावल वितरण करके रामकृष्ण मिशन के राहत-कार्य का शुभारम्भ किया था। स्वामी विवेकानन्द जी ने स्वयं भी १५० रुपये तथा २ सहायकों को भेजकर इस कार्य को अपना अनुमोदन तथा आशीर्वाद प्रदान किया था। इस राहत-कार्य के द्वारा ही स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ने वहाँ क्रमशः स्वास्थ्य-सेवा और शिक्षा के क्षेत्र में अपना कार्य-विस्तार किया था। उपरोक्त जिन तीन सेवाओं के लिये रामकृष्ण मिशन बहुत-से लोगों के बीच स्वीकृत एवं सम्मानित हो रहा है, उनमें से प्रत्येक की शुरुआत इस सारगाछी के रामकृष्ण मिशन आश्रम से ही हुआ था। इस सेवा-यज्ञ के पुरोधा स्वामी अखण्डानन्द जी के सुदीर्घ ४० वर्ष की तपस्या से पूत यह आश्रम निश्चय ही एक महा-सेवातीर्थ में परिणत हो गया है। श्रीरामकृष्ण देव, श्रीमाँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के आशीर्वाद से विविध प्रतिकूलताओं के बावजूद शिक्षा, स्वास्थ्य तथा राहत-कार्य रूपी त्रिवेणी-प्रवाह के माध्यम से यह आश्रम आज भी निर्धन जन-साधारण के बीच शान्तिवारि का सिंचन करने में निरत है। आज के महँगाई के समय में सरकारी तथा गैर-सरकारी अनुदान के अनिश्चित हो जाने के कारण इस संस्था की दीर्घ काल से चली आ रही सेवाकार्य की धारा को अबाध रूप से प्रवाहित रख पाना काफी कठिन हो गया है। इसीलिये सहृदय भक्तों, शुभाकांक्षियों तथा आम जनता से विनम्र निवेदन है कि आप हमारे स्वास्थ्य-सेवा तथा अन्य सेवा-कार्यों को चलाने के लिये ३० तथा २० अर्थात् कुल ५० लाख रुपयों के एक स्थायी कोष के निर्माण हेतु उदारतापूर्वक सहायता देकर हमारी परिकल्पना को साकार कीजिये। चेक या ड्राफ्ट कृपया `Ramakrishna Mission Ashrama, Sargachi' के नाम से बनवाएँ। रामकृष्ण मिशन को दिया गया यह दान आयकर की धारा ८०- जी के अन्तर्गत टैक्समुक्त है। श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदादेवी और स्वामी विवेकानन्द आप सभी का सर्वांगीण कल्याण करें – इस प्रार्थना के साथ –

आपका,

स्वामी शिवनाथानन्द

सचिव